* ॐ श्रीपरमात्मने नमः *



भगवान

कल्याण

वर्ष ६५ संख्या ९

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

(संस्करण १,८०,०००)

विषय-सूची

कल्याण, वि॰ सं॰ २०४८, श्रीकृष्ण-संवत् ५२१७

चित्र-सूची

प्रत्येक साधारण अङ्कका मूल्य भारतमें २.५० रु॰ विदेशमें २० पेंस

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट् जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते ॥

कल्याणका वार्षिक मूल्य (डाक-व्ययसहित) भारतमें ५५.००रु॰ विदेशमें ५ पौंड अथवा ८ डालर

संस्थापक—ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका
आदिसम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
सम्पादक—राधेश्याम खेमका
रामदास जालान द्वारा गोविन्दभवन-कार्यालयके लिये गीताप्रेस, गोरखपुरसे मुद्रित तथा प्रकाशित



वनलीलाकी एक झाँकी

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥



कल्याण

विश्वस्य यः स्थितिलयोद्भवहेतुराद्यो योगेश्वरैरपि दुरत्यययोगमायः।
क्षेमं विधास्यति स नो भगवांस्त्र्यधीशस्तत्रास्मदीयविमृशेन कियानिहार्थः॥

वर्ष ६५ | गोरखपुर, वि॰सं॰ २०४८, श्रीकृष्ण-सं॰ ५२१७ | संख्या ९ | पूर्ण संख्या ७७८

वनलीलाकी एक झाँकी

फिरि फिरि राम सीय तनु हेरत।
तृषित जानि जल लेन लषन गए, भुज उठाइ ऊँचे चढ़ि टेरत॥
अवनि कुरंग, बिहँग द्रुम-डारन रूप निहारत पलक न प्रेरत।
मगन न डरत निरखि कर-कमलनि सुभग सरासन सायक फेरत॥
अवलोकत मग-लोग चहूँ दिसि, मनहु चकोर चंद्रमहि घेरत।
ते जन भूरिभाग भूतलपर तुलसी राम-पथिक-पद जे रत॥

कल्याण

याद रखो—विशुद्ध प्रेम कभी रुकता नहीं, घटता नहीं, मिटता नहीं। जो रुकता, घटता और मिटता है, वह विशुद्ध प्रेम नहीं।

याद रखो—प्रेममें कलङ्क है—कामना, वासना, इन्द्रिय-सुखकी इच्छा और प्राणि-पदार्थका मोह। इन्हींसे प्रेम अशुद्ध रहता है और इसीसे इनकी अतृप्तिमें मोहवश रुकता, घटता और मिटता है।

याद रखो—प्रेमास्पद भगवान् दूर रहें या समीप, भक्त सदा उनको समीप देखता है और यह अनुभव करता है कि मुझसे उनका कभी वियोग होता ही नहीं।

याद रखो—कभी-कभी संयोगमें भी प्रेम-तन्मयताके कारण वियोगका अनुभव होता है, पर उस वियोग-पीड़ामें एकान्त स्मृतिजनक आत्यन्तिक सुखकी अनुभूति होती है। इस अवस्थाका मानस विलाप और रुदन बहुत ही मीठा होता है।

याद रखो—भक्त प्रेमीको प्रेमास्पद भगवान्‌की रुचिका अनुसरण करनेमें ही परम सुख मिलता है। वह जलता हुआ भी प्रेमास्पदके मुखका स्मित हास्य देखकर प्रसन्न हो जाता है और जलनेमें असीम आनन्दका अनुभव करता है।

याद रखो—भगवान् अपने भगवद्भावमें सदा ही सुख-दुःखसे रहित हैं, परंतु प्रेमास्पदरूपमें वे अपने प्रेमी भक्तका दुःख, उसका उदासीभरा चेहरा, उसका विषाद नहीं देख सकते और ऐसी अवस्थामें स्वयं दुःखी हो जाते हैं। उनका यह दुःख, उस प्रेमी भक्तके लिये, जिसका जीवन ही प्रेमास्पदका सुख है, परम दुःखका कारण बनता है। अतएव वह भक्त सदा-सर्वदा प्रत्येक स्थितिमें दुःखरहित, प्रसन्नमुख, हँसता हुआ तथा सर्वथा विषादशून्य रहता है; क्योंकि ऐसा रहकर ही वह अपने प्रेमास्पदको सुखी देखकर सुखी रह सकता है।

याद रखो—भगवान् इच्छारहित होते हुए भी प्रेमास्पदरूपमें प्रेमी भक्तके दिव्य मधुरतम प्रेम-रसका आस्वादन करनेके लिये सदा लालायित रहते हैं, वे उस प्रेमी भक्तको सुखी बनानेमें—सुखी देखनेमें जगत्‌को, अपने प्रभुत्वको, अपनी महत्ताको भुला देते हैं और निरन्तर विमुग्ध तथा अतृप्तभावसे उसके वासना-कामनाके विकार तथा विषसे रहित मधुरातिमधुर दिव्य प्रेमरसका पान करते रहते हैं।

याद रखो—इस प्रकार प्रेमी और प्रेमास्पद एक-दूसरेके प्रेमास्पद तथा प्रेमी बनकर समभावसे एक-दूसरेके साथ विषम व्यवहार करते हैं। अपनेको प्रेमी तथा उसको प्रेमास्पद मानकर एक-दूसरेको सुख पहुँचाकर उसे सुखी देख-देखकर सुखी होते रहते हैं। दोनों ही त्यागकी पराकाष्ठापर पहुँचे रहते हैं। भगवान् अपनी भगवत्ता त्याग देते हैं और भक्त अपने अनन्त मोक्ष-सुखका परित्याग कर देते हैं। प्रेमका मधुरातिमधुर आनन्द त्यागकी पवित्रतम भूमिकामें ही अपार अपूर्णत्व और असीम असीमत्व प्राप्त करता है।

याद रखो—विशुद्ध प्रेममें कभी भी न तो दोषदर्शन है, न अपने सुखकी वासना है। विशुद्ध प्रेम निर्मल, शीतल और मधुरतम अमृत है, जो सारे भोगजनित और भोगरूप विषको दूर करके नित्य-निरन्तर और सदाके लिये परम स्वस्थ और अमर बना देता है—स्थूलशरीरसे नहीं, प्रेमास्पदके प्रेमरूप मधुरातिमधुर अमृतमय जीवनसे।

याद रखो—विशुद्ध प्रेम निर्मल और शान्तिमय सूर्य है, जो सारे अज्ञानान्धकारको सर्वथा हरकर जीवनको नित्य अखण्ड प्रकाशमय कर देता है। और साथ ही अनुपम शान्ति-सुधासे भी भर देता है। फिर कभी न तो विषयासक्ति, विषयकामना, विषयविमोहरूप अन्धकारका उदय होता है और न विषाद-निराशारूप किसी अशान्तिका ही। विशुद्ध प्रेम प्रखर प्रकाशमय सूर्य है, जो अन्धकारका सदाके लिये नाश कर देता है, परंतु साधारण सूर्यके सदृश अपनी प्रचण्ड किरणोंसे कभी जलाता नहीं।

याद रखो—विशुद्ध प्रेम निर्मल निरतिशय सुधा-रस-परिपूर्ण सुधाकर है, जो उत्तरोत्तर बढ़ता ही रहता है। इसमें वह पूर्णिमा कभी होती ही नहीं, जिसके बाद उसके घटनेका क्रम आता हो। विशुद्ध प्रेम घटना जानता ही नहीं।

याद रखो—इस विशुद्ध प्रेमका किसी भी बाहरी स्थितिसे कोई भी सम्बन्ध नहीं है। यह तो अन्तरात्मामें विकसित और प्रकाशित दिव्यातिदिव्य मधुरतम भाव है, जो कभी-कभी किसीके जीवनमें आंशिकरूपसे प्रकट होता है और विश्वको विमुग्ध कर देता है। नहीं तो वह [illegible] अंदर ही छिपा रहता है।—'शिव'

भगवान्‌के गुण-प्रभावके तत्त्व-रहस्यका वर्णन

(ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाका प्राचीन प्रवचन)

भगवत्तत्त्व-रहस्यको ठीक-ठीक समझनेके लिये एक कहानी सुनाते हैं, जो लोकोक्ति या गढ़ी हुई हो सकती है। एक पण्डितजी थे। उनका जो लड़का था वह बड़ा बदमाश था। उसमें झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार आदि सभी अवगुण थे। उसके पिताके पास बहुत रुपये थे। वे शिवजीके उपासक थे। उनके पास शिवजीका एक मन्दिर, अपना मकान और बागीचा था। इसके अलावा उनके पासमें एक लाख रुपये नकद थे और जगह-जमीन आदि जो था, वह भी करीब एक लाखका स्टेट था। उन्होंने सोचा—मेरे मरनेपर यह लड़का मेरे धनको बरबाद कर देगा, तो यह इसका पात्र नहीं है, किंतु जगह-जमीन और यह सम्पत्ति तो रहेगी ही। इसको तो बेंच नहीं सकते। लेकिन एक लाख रुपये जो नकद हैं, ये इसको नहीं देना है। उन्होंने उन रुपयोंको गुप्त रख दिया। लड़केके बुरे आचरणको देखकर वे सदा दुःखी रहते। जब वे मरने लगे तो रोने लगे। लड़का बोला—'पिताजी! रोते क्यों हो?' बोले—'तेरेमें जो दुर्गुण-दुराचार हैं उनको देखकर मैं रोता हूँ। मेरी जो सम्पत्ति है इसको तू नष्ट कर देगा।' तो लड़केने कहा कि 'यह मेरे स्वभावका दोष है, यह तो मेरेसे दूर होना मुश्किल है, किंतु एक बात कोई आप बतला दें तो उसको मैं काममें लानेकी चेष्टा करूँगा।' तो उसको पिताने एक मन्त्र सिखला दिया और बोले कि जब तुम स्नान करो तो इसका एक बार प्रतिदिन पाठ कर लिया करो। यदि कोई महात्मा तुमको इसका सच्चा अर्थ बतलानेवाले मिल जायेंगे तो तुम्हारी सांसारिक दरिद्रता नष्ट हो जायगी। उसको मन्त्र सिखला दिया और उसने उसको खूब कण्ठस्थ कर लिया। उस मन्त्रका अभिप्राय यह था कि 'मेरे लड़केमें दुराचार बहुत हैं, यह सदाचारी बन जाय तो मेरा जो गुप्त धन है, इसको महात्मा पुरुष बतला दें। मैंने एक लाख रुपये शिवजीके मन्दिरकी गुंबजमें चैत्र शुक्ल पक्षकी प्रतिपदाके दिनके बारह बजे रखे हैं। इसका जो रहस्य है, जब यह पात्र बने तभी महात्मा इसे समझायें नहीं तो नहीं'—यह उसका अर्थ था। वह रोज स्नान करते समय इसका पाठ कर लेता। पिता मर गया। मरनेके बाद वह पाठ करता ही रहा, तो उसकी जो सम्पत्ति थी प्रायः नष्ट हो गयी, मन्दिरको छोड़कर। वह जुआ खेला करता था। सट्टा-फाटका करता था। उसमें बरबाद हो गया। पहले उसमें चोरी-जारी, हिंसा, भक्ष्याभक्ष्य—यह सभी बुरी आदतें थीं; किंतु रुपये जब समाप्त हो गये तो ये सब स्वतः ही बंद हो गये। जुआरी पैसा हो तो जुआ खेले। वह बहुत दुःखी हो गया। न उसको उधार मिलता है, न उसको भीख ही मिलती है माँगनेपर। उस दुःखसे दुःखी होकर वह रो रहा था। स्नान किया और स्नान करके उसने समयके अनुसार उस श्लोकका पाठ किया। एक अच्छे विद्वान् महात्मा उसे सुनकर उसका तात्पर्य समझ गये। उन्होंने कहा—'जो तुम यह पाठ करते हो, इसका क्या मतलब है?' वह बोला—'मतलब यह है कि जब मेरे पिताजी मरे तो उन्होंने कहा कि इस श्लोकका तुम सदा पाठ करना। इस श्लोकसे तुम्हारी दरिद्रता दूर हो जायगी। किंतु होगी तभी जब तुम दुराचारोंको छोड़ दोगे, तो कोई महात्मा तुमको इसका तत्त्व-रहस्य समझा देगा।' महात्मा बोले—'इसके तत्त्व-रहस्यको तुम समझे?' वह बोला—'नहीं समझा।' महात्माने कहा—'मैं समझ गया, उसका सार जो है मैं तुम्हें बतला रहा हूँ। सुनो, तुम्हारे पिताके पास रुपये थे?' वह बोला कि एक लाख रुपये नकद थे। बोले—'मरनेके समय तुम्हें दिया नहीं?' बोला—'दिया नहीं' बोले—'बतलाया नहीं।' बोला—'बतलाया भी नहीं।' बोले—'क्यों?' बोला—'पता नहीं क्यों?', महात्मा बोले—'मुझको पता है।' बोला—'तो महाराज! आप बतला दो।' बोले—'तुम्हारे पिताकी यह आज्ञा है कि लड़का जब पात्र हो जाय, दुराचारको छोड़ दे तब बतलाना। तुम इसका क्या अर्थ समझे?' बोला—'मैं इसका यह अर्थ समझा कि हमारे एक शिवजीका मन्दिर है, उसकी जो गुंबज है, उसमें पिताजीने लाख रुपये रखे हैं। यह समझकर हमने उस गुंबजको तुड़वाया था, किंतु उसमें एक पाई भी नहीं मिली। फिर उस गुंबजको वैसा-का-वैसा बनवा दिया।' बोले—'अच्छा किया। यदि गुंबजमें होता, उसका यही अर्थ ठीक होता तो रहस्य और तत्त्वको समझानेकी क्या आवश्यकता रहती। इसका कोई तत्त्व-रहस्य है और उसको मैं जानता हूँ।' वह

उनके चरणोंमें गिर गया। बोला—'आप जानते हो तो मैं बहुत दुःखी हूँ, मेरे सिर ऋण भी हो गया। सम्पत्ति तो सब नष्ट हो गयी और इस मन्दिरका पिताजी ट्रस्ट बना गये तथा उसको धर्मार्थ कर गये। मन्दिर तो धर्मार्थ होता ही है। बस, यही बचा है, जिसका मेरे पास कोई उपाय नहीं और कोई सम्पत्ति भी नहीं है। मुझको अब भीख भी नहीं मिलती, न ऋण मिलता है। मारा-मारा फिरता हूँ, बड़ा दुखी हूँ।' बोले—'मैं तुम्हें बतला दूँ। किंतु तुम्हारेमें जो दुर्गुण-दुराचार हैं, उनको तुम छोड़ दो तो।' वह बोला—'महाराज! मैं छोड़ दूँगा।' महात्मा बोले—'पहले नहीं बतलाऊँगा। पहले तुम छोड़ दो।' उसने कहा—'तो आपको विश्वास कैसे आयेगा।' वे बोले—'तुम सालभर इसका परहेज रखो फिर सदाके लिये प्रतिज्ञा करो।' उसने कहा—'ठीक है।'

एक सालके बाद वह फिर उस महात्मासे मिला और बोला—'महाराज! अब हमने सब छोड़ दिया है। मुझमें व्यभिचारका जो दोष था, बिलकुल भी नहीं रहा। दूसरी स्त्रीको माताके समान समझता हूँ, झूठ नहीं बोलता और चोरी भी नहीं करता, सब छोड़ दिया—मद्य-पान, मांस-भक्षण, जुआ खेलना आदि जो मेरेमें दोष थे सब मैंने छोड़ दिये। अब तो मैं केवल भगवान्‌का भजन-ध्यान ही करता हूँ और इधर-उधरसे भीख माँगकर खाता हूँ। उधार कोई देता नहीं, मुझपर जो ऋण है वह है ही। और मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ— प्रतिज्ञा करता हूँ कि भविष्यमें कोई भी दोष मुझमें नहीं आने पावेंगे।' अब आप मेरे पिताका धन मुझको बतला देवें।' वे बोले—'चैत्र-शुक्लपक्ष प्रतिपदा आने दो।' उसने कहा—'ठीक है।' कुछ दिनोंके बाद चैत्र-शुक्ल प्रतिपदाका दिन आ गया। वह बोला—'महाराज! कल है वह दिन।' वे बोले—'कल तुम चार मजदूर रख लेना।' बोला—'महाराज! पैसा नहीं है।' महात्माने कहा—'पैसा हम देंगे।' वह बोला—'ठीक है।' कुलियोंको रख लिया। महात्मा बोले—'तुम्हारा मन्दिर कहाँ है?' उसने जाकर मन्दिर दिखाया। उन्होंने चारों तरफ निगाह करके देखा और बोले—कुलियोंको बुलाकर लाओ। यहाँ कुली नौ बजे आते हैं। जमीन खोदनेकी सामग्री सब मँगाकर रखो। उसने कहा, रख दी। बोला—'महाराज! बतलाओ।' महात्माजी बोले—'तुम जो पाठ करते हो। उसमें जो मन्त्र बोलते हो, उस मन्त्रमें तो यह बात है कि हमारा-लड़का दुराचारी है, इसमें दुर्गुण भरे हैं, जब इसमें दुर्गुण-दुराचार न रहें तो हमारी जो सम्पत्ति है, इसको महात्मा बतला दें। हमारी सम्पत्ति मन्दिरकी जो गुंबज है, उसमें चैत्र-शुक्ल प्रतिपदाके दिन बारह बजे रखी गयी है। अतः दिनके बारह बजने दो।' जब दिनके बारह बज गये तो उसके गुंबजकी जहाँ छाया पड़ती है वहाँ निशान कर दिया। और बोले—'इसको यहाँसे खोदो।' वहाँ खोदनेसे एक लाख रुपये निकले। वे बोले—'यह तुम्हारे बापकी सम्पत्ति है, इसको तुम ले लो। कुलीसे क्या ठहराया है।' वह बोला—'एक रुपया कुली।' तो वे बोले—'चार रुपये इनको दे दो। ठीक है, बाकी धन तुम्हारा।' वह बोला—'आप कुछ लो।' वे बोले—'हम कुछ लेते नहीं, तुम्हारे पिताका धन है, तुम्हारा है,' तो इस प्रकार उसको अपने पिताकी सम्पत्ति मिल गयी।

हम लोगोंके पिता एक ही हैं भगवान्। उनकी सम्पत्ति है मुक्ति। और यह सबकी चीज है। यह जो लौकिक स्वराज है, वह तो एकको ही मिल सकता है। हमारे जो परम पिता परमात्माकी सम्पत्ति है वह युवराज-पद सबको मिल सकता है। इसी प्रकारकी पदवी है, उसे परमात्माकी प्राप्ति कहो, मुक्ति कहो, वह सबको मिल सकती है।

यह आपसे एक बात कही गयी। इसका जो तत्त्व-रहस्य है, वह सबको समझना चाहिये। तो आपका पिता कौन है—परमात्मा। उन्होंने हमलोगोंको गीताका उपदेश अर्जुनको निमित्त बनाकर दिया है। इसका हमलोग स्नान करके पाठ करते ही हैं, इसका अर्थ भी समझते हैं, शब्दार्थ समझते हैं, किंतु उसका तत्त्व-रहस्य नहीं समझते। एक भी श्लोकका तत्त्व-रहस्य समझ जायँ तो बेड़ा पार है। अर्थ समझना क्या है? और तत्त्व-रहस्य समझना क्या है? उसे बतलाते हैं—**'भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्। सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥'** (गीता ५।२९) यह जो श्लोक है, यही हमारी आत्माका उद्धार करनेके लिये उच्चकोटिका मन्त्र है। इसके चार चरण हैं, चारों चरणोंमेंसे एकमें तो फल बतलाया है और तीनमें तीन साधन बतलाये हैं। **'भोक्तारं यज्ञतपसां'** यज्ञ और तपोंका भोक्ता, **'सर्वलोकमहेश्वरम्'** सब लोकोंका महान् ईश्वर, **'सुहृदं सर्वभूतानां'** सब भूतोंका सुहृद्

मुझको जानकर मनुष्य परमशान्तिको प्राप्त होता है। यहाँ शान्तिसे अर्थ परमशान्ति लेना चाहिये। यह सांसारिक शान्ति नहीं, यह पारमार्थिक शान्ति है। इसलिये जो तीन साधन बतलाये, तीनोंको धारण करनेसे या किसी एकको करनेसे भी परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है? एकको करनेसे भी हो जाती है फिर तीनोंके करनेसे हो जाय तो बात ही क्या है। तो यह शब्दार्थ हुआ। इसे तो हम समझ गये। इसका तत्त्व और रहस्य नहीं समझे। तो तत्त्व क्या है? रहस्य क्या है? तत्त्व यह समझना चाहिये कि पहली बात यहाँ भगवान् कहते हैं, मुझको यज्ञ और तपोंका भोक्ता समझनेसे मनुष्यको शान्ति प्राप्त होती है—**'भोक्तारं यज्ञतपसां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति। सर्वलोकमहेश्वरं ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति, सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।'** 'यज्ञ और तपोंका मुझको भोक्ता जानकर, सब लोकोंका महेश्वर मुझको जानकर, और सब भूतोंका परम सुहृद् मुझको जानकर मनुष्य परमशान्तिको प्राप्त होता है।'

यज्ञ और तपोंका भोक्ता, इसका अभिप्राय क्या है? इसका तात्त्विक अर्थ क्या है? संसारमें लोग जो यज्ञ करते हैं, उन सबका भोक्ता मैं हूँ। जितने प्रकारके संसारमें यज्ञ हैं—कोई आदमी अग्निमें आहुति देता है तो भगवान् कहते हैं कि मैं अग्निरूप बनकर आहुति ग्रहण करता हूँ। अर्थात् अग्निमें दी हुई आहुतिका मैं भोक्ता हूँ, मैं खाता हूँ। पितरोंको जो पिण्ड देते हैं, जल देते हैं, श्राद्ध करते हैं तो मैं पितृरूपसे खानेवाला हूँ। अतिथिको जो भोजन कराते हैं, जिसको मनुष्य-यज्ञ कहते हैं तो उस अतिथिके रूपमें भी मैं ही भोजन करता हूँ। जिसको बलिवैश्वयज्ञ कहते हैं, जो सारे भूतोंको आहुति दी जाती है, भगवान् कहते हैं, उन सारे भूतोंके रूपमें मैं ही एक प्रकारसे भोजन करता हूँ। भाव यह है कि सारी दुनिया मेरा स्वरूप है। मनुष्य जो भी कुछ करता है—किसीकी सेवा करता है, किसीको दान देता है या उपकार करता है, वह सब मेरी ही सेवा है। यह इसका तात्त्विक अर्थ हुआ। इस तात्त्विक अर्थको समझ करके वैसे ही करने लग जावें तब हमको परम शान्ति मिल सकती है। कोई हमारे घरपर अतिथि आवे तो उसको साक्षात् भगवान् समझकर उसकी सेवा करने लग जावे। भगवान्‌से मिलनेपर जैसी प्रसन्नता, शान्ति, आनन्द होता है, वैसा ही आनन्द होना चाहिये। यदि गीताको हम सत्य मानते हैं, विश्वास करते हैं तो ऐसा ही हमको समझना चाहिये। रास्तेमें कहीं कोई वृक्ष आ गया तो प्रभु! आप यहाँ वृक्षका रूप धारण करके बैठे हो, ऐसा मनमें विचारकर उसमें जल डालें जैसे पीपलका वृक्ष है, बड़का वृक्ष है, तुलसीका वृक्ष है, आँवलेका वृक्ष है। शास्त्रोंमें बतलाया है कि ये साक्षात् भगवान्‌के ही स्वरूप हैं। गीता भी कहती है **'अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां'** (१०। २६)। सारे वृक्षोंमें मैं अश्वत्थ हूँ। यह बात विशेषरूपसे कही गयी है। सामान्य भावसे तो सब मेरे ही स्वरूप हैं (१०। २०)। हमको तो यह समझना चाहिये कि सभी भगवान्‌के स्वरूप हैं। विश्वासपूर्वक जो इस प्रकार करता है, (विश्वास होनेसे वह करेगा ही) तो जो यह विश्वास कर लेना है वही उसका रहस्य जान लेना है।

आकाशात् पतितं तोयं यथा गच्छति सागरम्।
सर्वदेवनमस्कारः केशवम्प्रति गच्छति॥

आकाशसे गिरा हुआ जल जैसे पहाड़ोंसे बहकर नदियोंमें आता है और नदियोंमें होता हुआ वह जल समुद्रमें जाकर गिरता है। वर्षाका जल भूमिमें जितना सूख जाता है, उसके बाद जितना बच जाता है, चारों तरफसे वह जल बहकर समुद्रमें जाकर मिल जाता है। इसी प्रकार हम जो देवताओंको या किसीको भी नमस्कार करते हैं, वह भगवान्‌को प्राप्त होता है। यह समझना इसका रहस्य समझना है। भगवान्‌को कैसे प्राप्त होता है। सबमें भगवान् विराजमान हैं, इसलिये सबको नमस्कार करना भगवान्‌को ही नमस्कार करना है। सबकी सेवा करना भगवान्‌की सेवा करना है, जो पूजा तथा सबका सत्कार है सो भगवान्‌की ही पूजा है, भगवान्‌का ही सत्कार है। इसके विपरीत यदि किसीका तिरस्कार करते हैं तो वह भगवान्‌का तिरस्कार है। सबके हितमें रत होकर सबकी सेवा करनी चाहिये—***'परहित बस जिन्ह के मन माहीं। तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं॥' 'दुर्लभ जग नाहीं'*** जो दूसरेके हितमें रत रहता है, उसके लिये संसारमें कोई भी पदार्थ दुर्लभ नहीं है। भगवान् गीतामें भी कहते हैं कि **'ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः।'** (१२। ४) —जो सारे भूतोंके हितमें रत हैं, वे मुझको ही प्राप्त होते हैं। तो सबको नारायण समझकर जो सबकी सेवा करता है, वास्तवमें वही भगवान्‌को सब

यज्ञोंका भोक्ता समझना, तत्त्व-रहस्य समझना है। तो हम जो भी कुछ यज्ञ करते हैं, दान देते हैं, तप करते हैं, सेवा करते हैं, उसमें यह भाव रखना चाहिये कि हम इसके द्वारा भगवान्‌की सेवा कर रहे हैं। हम यह सब भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार करते हैं, भगवान्‌के लिये ही करते हैं। भगवान्‌की प्राप्तिके लिये करते हैं, तो भगवान्‌के लिये करते हैं या भगवान्‌में प्रेमके लिये करते हैं तो भगवान्‌के लिये ही करते हैं। यह उद्देश्य रखकर हम सबको नारायणका स्वरूप समझकर सेवा करें, यज्ञ करें या दान दें, तप करें या जो कुछ करें तो उसका वास्तविक तत्त्व-रहस्य समझना है।

अब दूसरी बात बतायी जाती है। भगवान् कहते हैं कि **'सर्वलोकमहेश्वरं ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति'**—मुझको सब लोकोंका महान् ईश्वर समझकर—जानकर मनुष्य परम शान्तिको प्राप्त होता है। यह हमने सुन तो लिया कि भगवान् सब लोकोंके ईश्वर हैं, ईश्वरोंके भी ईश्वर हैं, किंतु बातको ठीक समझे नहीं, शब्दार्थ समझे, किंतु तत्त्व समझना चाहिये, रहस्य समझना चाहिये। तत्त्व यह है कि भगवान् ईश्वरोंके भी महान् ईश्वर हैं और भगवान्‌से बढ़कर संसारमें कोई नहीं है, जब इस बातको हम तत्त्वसे समझ जायँगे तो हम भगवान्‌को एक क्षण भी नहीं भूलेंगे। भगवान्‌को हर क्षण भजेंगे। भगवान्‌को छोड़कर और किसीका भी भजन नहीं करेंगे, क्योंकि यह बात भगवान्‌ने गीता (१५। १९) में बतलायी है—

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥

जो असंमूढ पुरुष हैं, जिसमें किसी प्रकारका किंचिन्मात्र भी मूढ-भाव नहीं है, सबके तत्त्वको समझनेवाला है, ऐसा सर्वज्ञ है वह पुरुष। एक तो सिद्ध होते हैं, दूसरे साधक। ऐसे जो साधक साधु-महात्मा हैं, वे नित्य-निरन्तर मुझको भजते हैं। मुझको छोड़कर जो दूसरेको भजते हैं, तो वे मुझको सर्वोत्तम नहीं समझते।

जैसे आप कहते हैं कि भगवान्‌की स्मृति निरन्तर नहीं रहती है तो इससे यह बात सिद्ध होती है कि भगवान्‌को छोड़कर इससे भी बढ़कर किसी चीजको समझते हैं, तभी तो दूसरी चीजको भजते हैं, नहीं तो क्यों भगवान्‌को छोड़कर अन्यको भजते। भगवान्‌ने इसके पूर्व निर्णय कर दिया कि एक तो क्षर पदार्थ है, एक अक्षर—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥
(१५। १६)

—इस संसारमें दो प्रकारके प्राणी हैं—एक तो क्षर और दूसरे अक्षर। सारे भूत—प्राणी तो क्षर हैं यानी भूत—प्राणियोंके जो ये शरीर हैं वे क्षर हैं और आत्मा जो है वह अक्षर है।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥
(१५। १७)

उत्तम पुरुष जो है वह इन दोनोंसे अलग (वह क्षरसे अतीत है और अक्षरसे भी उत्तम) है, जिसका नाम परमात्मा है, वह तीनों लोकोंमें व्याप्त होकर सबका भरण-पोषण करता है। जिसका नाम ईश्वर है उसे पुरुषोत्तम कहते हैं; भगवान् कहते हैं वह मैं हूँ। तो मुझ परमात्माको जो पुरुषोत्तम समझता है उसकी यह कसौटी है कि वह सर्वभावसे मुझको ही भजता है। सर्वभाव कैसे है कि—

त्वमेव माता च पिता त्वमेव त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

'हे देवदेव! आप ही हमारे माता-पिता, भाई-बन्धु, सखा, स्वामी, गुरु, पति सब कुछ हो और विद्या, धन आप ही हो। जो इस प्रकारसे सर्वभावसे मुझको भजता है तो फिर उसको दूसरी चीजकी आवश्यकता नहीं रहती। और मुझसे बढ़कर दूसरी चीज समझता है, तभी उसको भजता है। उसका सेवन करता है। तो इस तत्त्वको समझ करके इस गुप्त बात-(रहस्य) को समझ करके फिर इसी काममें लग जाता है। यदि नहीं लगा तो समझो कि उस रहस्यको समझा नहीं। जब रहस्यको समझकर इस कार्यको आरम्भ कर देता है तो उसको भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है, परमपदकी प्राप्ति हो जाती है, मुक्तिकी प्राप्ति हो जाती है। यही अपने परमपिताका गड़ा हुआ गुप्त धन है। उस लड़केको उस महात्माने उसके पिताका धन बतला दिया। उसके अनुसार उसने प्रयत्न किया, धन मिल गया। धन मिलनेमें तो विलम्ब हुआ नहीं, कष्ट हुआ नहीं। बरसों बीत गये, परंतु पिताका धन होते हुए भी उसको नहीं

मिला। उस धनके रहस्यको समझानेवाला कोई महात्मा आ गया तो तुरंत ही मिल गया।

तीसरी बात है—'**सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।**' मुझको सब भूतोंका सुहृद् जानकर मनुष्य शान्तिको प्राप्त होता है। यानी परमशान्तिको प्राप्त होता है। तो भगवान् सब भूतोंके सुहृद् हैं, बिना कारण दया और प्रेम करनेवाले हैं यह तो शब्दार्थ हुआ। इसका तत्त्व समझना चाहिये। तत्त्व यह कि भगवान् सब जगह हैं, जड नहीं चेतन हैं। हमलोग जो बोल रहे हैं, भगवान् सुन रहे हैं, जो क्रिया करते हैं, भगवान् देख रहे हैं; क्योंकि वे सर्वज्ञ हैं, इस बातको आपने समझ लिया। बोला, समझ लिया। तो शान्ति मिली, बोले नहीं मिली। तो नहीं समझा, क्योंकि इसका यह फल है कि '**ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति**', '**मां ज्ञात्वा**' मुझ परमात्माको तत्त्वसे जानकर मनुष्य शान्तिको प्राप्त हो जाता है। तो बोला— इसमें तत्त्व शब्द तो नहीं है। बोले—अध्याहार कर लो, समझ लो, जो तुम जानते हो इतना जाननेसे शान्ति नहीं मिलती। उसको यथार्थरूपसे जाननेसे शान्ति मिलती है। कोई एक भिखारी घर-घर भीख माँग रहा है और जहाँ जाता है वहाँ धक्का मिलता है। किसीने उसको कह दिया—यहाँ पासमें ही एक बहुत उच्चकोटिके दाता हैं, उनके घर जो जाता है वह खाली हाथ नहीं आता। उनके पास जाकर व्यक्ति जो कुछ माँगता है वही उसको मिल जाता है। यहीं पासमें ही घर है और उसने ले जाकर बतला भी दिया कि यह घर है। फिर वह भिखारी क्या वहाँ बिना माँगे सब्र करेगा? कभी नहीं। वह सदाके लिये अपनी दरिद्रता दूर हो जाय ऐसी माँग पेश करेगा। क्या भूखों मरता वह सड़कपर बाहर पड़ा रहेगा, सम्भव नहीं। यहाँ जो भगवान् सब जगह विराजमान हो रहे हैं, उनको सुहृद् जाननेसे ही शान्ति मिल जाती है। सुहृद् जान लेगा तो अपने द्वारपर पड़े हुए भिखारीकी वह मालिक रोज सँभाल रखता है, बिना माँगे ही देता है और याचना करनेपर तो उसी समय मिल जाता है। हम भगवान्‌को सुहृद् मान लें कि भगवान् बिना कारण ही दया और प्रेम करनेवाले हैं तो फिर क्या हम भगवान्‌को छोड़कर किसी दूसरेसे प्रेम करेंगे? कभी नहीं। तो हम उस परम दयालु, परम प्रेमी भगवान्‌से प्रेमकी याचना किये बिना क्या रह सकेंगे। वे तो बिना याचना किये ही सब कुछ देते हैं। 'हेतुरहित दयालु हैं, हेतुरहित प्रेमी हैं,' उनके समान कोई है ही नहीं। इससे भी बढ़कर एक बात है कि भगवान् हेतुरहित दया करनेवाले हैं, हेतुरहित प्रेम करनेवाले हैं, इस बातका जब हमको ज्ञान हो जायगा कि भगवान्‌में यह एक बड़ा भारी गुण है। सबसे बढ़कर यह भगवान्‌में गुण है। तो उसी वक्त हम भी सब भूतोंके परम प्रेमी और परम दयालु बन जायँगे। भगवान् एक ऐसे पुरुष हैं जो हेतुरहित प्रेम करनेवाले हैं और जो उनको जान जाता है, वह भी फिर वैसा ही बन जाता है—

हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥

हे असुरारी! हेतुरहित प्रेम करनेवाले या तो आप हैं या आपका भक्त है, दो ही हैं और तीसरा कोई नहीं। तो हमको यह समझना चाहिये कि रामके समान संसारमें हेतुरहित प्रेम करनेवाला और कोई भी नहीं है तो इस बातको समझ लेनेपर उसका रामके साथ अनन्य प्रेम हो जायगा।

उमा राम सम हित जग माहीं। गुरु पितु मातु बंधु कोउ नाहीं॥

हे उमा! रामके समान हित करनेवाला माता-पिता, गुरु, बन्धु-बान्धव कोई भी नहीं है, जब इस प्रकार हमको ज्ञान हो जायगा कि भगवान्‌के समान दुनियामें हमारा कोई भी हितैषी-प्रेमी नहीं है तो हम भगवान्‌को छोड़कर क्या सांसारिक जड पदार्थोंसे—भोगोंसे कभी प्रेम करेंगे? यदि प्रेम करते हैं तो अभी हम समझे नहीं। भगवान्‌के तत्त्व-रहस्यको जब समझ जायँगे तो भगवान्‌के सिवा दूसरे किसीसे हम प्रेम कर ही नहीं सकते। दूसरेसे करेंगे तो सबमें भगवान् समझकर ही प्रेम करेंगे। विषय-भोगोंसे यदि हमें आनन्द प्राप्त होता है तो हम भगवान्‌को हेतु-रहित प्रेमी कहाँ समझे। हम दूसरेसे प्रेम करते हैं यही भगवान्‌के तत्त्व-रहस्यको न समझना है।

स्वारथ मीत सकल जग माहीं। सपनेहुँ प्रभु परमारथ नाहीं॥

भगवान् श्रीरामके उपदेश सुनकर बदलेमें प्रजा उत्तरकाण्डमें कह रही है कि हे प्रभु! दुनियामें सब स्वार्थके मित्र हैं, मतलबके साथी हैं। स्वप्नमें भी स्वार्थको छोड़कर मित्रता करनेवाला कोई नहीं है, भगवान् और उनके भक्तके सिवा। इस प्रकारसे जो समझता है, उसका भगवान्‌में अनन्य और विशुद्ध प्रेम हो जाता है। भगवान्‌के प्रेमीमें, भगवान्‌के प्रियतममें जो लक्षण बताये वह उसमें आ जाते हैं।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥

(गीता १२।१३-१४)

मेरा वह भक्त मुझको प्यारा है जो किसी भी प्राणीमें द्वेषभाव नहीं रखता। क्योंकि जो सब भूतोंका सुहृद् होता है, उसका किसीसे द्वेषभाव नहीं रहता और द्वेष है तो वह सबका सुहृद् नहीं है। जिसकी ममतारहित मित्रता है, हेतुरहित मित्रता है, कोई प्रयोजन नहीं, सबमें मित्रता है, मैत्री है, मित्रकी भाँति भाव है, सबके ऊपर हेतुरहित दया है, भगवान् हेतुरहित दयालु हैं और वह पुरुष भी हेतुरहित दयालु है, हेतुरहित प्रेमी है। बोले—हेतुरहित शब्द स्पष्ट नहीं हुआ। बोला—आगे चलो—'**निर्ममो**' यानी किसीमें भी ममता नहीं। मेरा भाई है, मेरा बेटा है, चाचा है, सम्बन्धी है—इन सब सम्बन्धोंको लेकर सबके ऊपर दया नहीं है। '**निरहंकारः**' ऐसा होनेपर अहंकार भी नहीं है कि मैं हेतुरहित दयालु हूँ या प्रेमी हूँ। अहंकारका उसमें नामोनिशान भी नहीं है। '**समदुःखसुखः**' सुख और दुःखकी प्राप्ति होती है '**क्षमी**' है तो वह भगवान्का भेजा हुआ पुरस्कार समझकर उसमें समचित्त रहता है। कभी कोई आदमी कितना ही अपराध कर दे, उस अपराधको अपराध ही नहीं समझता। अपराध समझकर माफ करना तो दूर, उसका अपराध ही नहीं समझता। जैसे कोई छः महीनेका, सालभरका लड़का अपने पिताकी मूँछ पकड़कर खींच ले तो क्या उसका अपराध माना जा सकता है? पिता कहते हैं—इसका अपराध है ही नहीं या माँ उसको मारती है तो वह मारनेका तत्त्व समझता ही नहीं तो कभी उठाकर पिताके मुक्का लगा देता है। सालभरका लड़का है तो वह क्या समझे। उस अपराधको पिता अपराध ही नहीं समझता। ऐसे ही कोई वैद्य किसी रोगीको देखने जाता है। रोगी एकदम संनिपातमें है या पागल है। अर्थात् त्रिदोष हो गया है, जिससे वह प्रलाप करता है। गाली निकालता है या जो उसके नजदीक आता है, उसे मार भी देता है। वैद्यको भी मार देता है, किंतु वैद्य उसको अपराध नहीं समझता है, क्योंकि वह पागल (बेहोश) है, उसे किसी बातका ज्ञान नहीं है। यह नहीं कि वैद्य भी उसको थप्पड़ लगाये। जब इस प्रकार संसारमें साधारण माता-पिता और वैद्यलोग भी उसकी बातपर ध्यान नहीं देते, तो मायामें उन्मत्त मनुष्यकी क्रियापर ज्ञानी, महात्मा कैसे ध्यान देगा। तो इस अपराधको अपराध ही नहीं मानता। '**संतुष्टः सततं योगी**' ऐसा योगी महात्मा हर समय आनन्दमें मस्त रहता है, संतुष्ट रहता है। परमात्माके स्वरूपमें मग्न रहता है। '**यतात्मा**' जिसने मनको वशमें कर लिया है। दृढ़ निश्चयसे जिसने मन-बुद्धिको मेरेमें अर्पण कर दिया ऐसा मेरा भक्त मुझको प्यारा है। मन-बुद्धिको भगवान्में समर्पण करनेवालेके लिये भगवान्के सिवा और कोई दूसरा पदार्थ है ही नहीं। उसका मन एक भगवान्को छोड़कर और दूसरी चीजका कभी चिन्तन करता ही नहीं, जहाँ उसका मन जाता है, वहीं भगवान्के स्वरूपका चिन्तन करता है। ऐसा मेरा भक्त मुझको प्यारा है। यह लक्षण उसमें घट जाते हैं। भगवान् सबके सुहृद् हैं तो भक्त भी सबका सुहृद् बन जाता है। अगर हम सबके सुहृद् नहीं बने तो कम-से-कम परम दयालु भगवान्के पास जाकर रुदन करें तो दुःखसे रहित हो जायँ और जो उनकी प्राप्तिका अभाव है, उन परमात्माको प्राप्त कर लें यानी परम शक्तिको प्राप्त कर लें। इस प्रकारसे जो भगवान्को समझता है वह भगवान्से पूर्ण लाभ उठाकर उनकी प्राप्ति कर लेता है। जैसे भिखारी किसी धनीको पाकर अपनी दरिद्रता दूर कर ही लेता है। अपनी आत्माकी तृप्ति कर लेना, शान्तिलाभ उठाना साधारण लाभ है। विशेष लाभ उठाना तो वैसा ही बन जाना है। दोनों ही बातें ठीक हैं। परम शान्ति तो उसको मिल ही जाती है और वह भगवान्को प्राप्त हो ही जाता है और भगवान् कहते हैं कि '**मम साधर्म्यमागताः**' मेरे सादृश्य धर्मवाला बन जाता है अर्थात् जैसा मैं हूँ वैसा ही बन जाता है तो यह भगवान्ने गीताके १४।२ में बतलाया है। इस रहस्यको आपको बतला दिया। हमलोगोंको इसका तत्त्व और रहस्य समझना चाहिये, समझना यही है कि तदनुसार बन जायँ।

'जहाँ सम्पत्ति है वहीं सुख है, परंतु सम्पत्तिके भेदसे ही सुखका भी भेद है। दैवी सम्पत्तिवालोंको [illegible]सुख है और आसुरीवालोंको आसुरीसुख, नरकके कीड़ोंको नरक-सुख।

हिन्दू-धर्ममें राष्ट्रदेवताकी आराधना

(ब्रह्मलीन स्वामी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वती महाराज)

हिन्दू-धर्ममें राष्ट्रकी आराधनाका सर्वोपरि स्थान है। व्यक्ति और समाज अपनेको राष्ट्रिय ही नहीं मानता, बल्कि स्वयंको राष्ट्र समझकर बहुमुखी अभ्युदय और विकासकी चेष्टा करता है। अपनी स्वाधीनताकी रक्षाके लिये जाग्रत् रहता है। वेदोंमें इसके अनेक उदाहरण हैं—

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे-निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम्। (शुक्ल यजुर्वेद २२।२२)

'ब्रह्मन्! यज्ञादि उत्तम कर्मशील हमारे इस राष्ट्र (भारत) में ब्रह्मवर्चस्वी—तेजस्वी ब्राह्मण, लक्ष्यवेधक और महारथी तथा अस्त्र-शस्त्रमें निपुण क्षत्रिय उत्पन्न हों। गायें प्रभूत दूध देनेवाली और बैल बलवान् (बोझा ढोने आदिमें क्षम) हृष्ट-पुष्ट तथा अश्व वेगवान् हों। सुन्दरी स्त्रियाँ नागरी (संस्कार-सदाचार-सम्पन्न बुद्धिमती) हों और युवक वीर, जयी, रथी तथा सभाके लिये उपयुक्त सभासद सिद्ध हों। हमारे राष्ट्रमें पर्जन्य (मेघ) प्रकाम वर्षा बरसायें और ओषधियाँ (ओषधियाँ और फसलें) फलवती होकर पकें— अन्न और फल पर्याप्त सुलभ हों। हमारे योग-क्षेम चलते रहें—अप्राप्तकी उपलब्धि और उपलब्धकी रक्षा होती रहे।'

विश्वसे तादात्म्यापन्न होकर सेवाकी प्रधानता, तैजससे तादात्म्यापन्न होकर वैश्वधर्मकी प्रधानता और तुरीयसे तादात्म्यापन्न होकर ब्राह्मण-धर्मकी प्रधानता, इसी प्रकार विश्वसे तादात्म्यापन्न होकर ब्रह्मचारीकी प्रधानता, तैजससे तादात्म्यापन्न होकर गृहस्थकी प्रधानता, प्रज्ञासे तादात्म्यापन्न होकर वानप्रस्थकी प्रधानता और तुरीयसे तादात्म्यापन्न होकर संन्यासीकी प्रधानता, इस प्रकार दार्शनिक दृष्टिकोणसे हमारा चातुर्वर्ण्य और चातुराश्रम्य प्रतिष्ठित है, तो ऐसी स्थितिमें हमारा राष्ट्र क्या है? हमारी शक्ति। देवी भगवती स्वयं बोलती हैं—

'अहं राष्ट्री, संगमनी वसूनाम्।'

'मैं राष्ट्रिय हूँ, मैं स्वयं राष्ट्र हूँ।'

यदि आपने भारतवर्षकी यात्रा की हो तो उसके दक्षिणी सिरेपर कुमारी अन्तरीप, जिसे कन्याकुमारी कहते हैं, वहाँ कुमारीदेवीकी मूर्ति देखी होगी[१]। आपको मालूम है वे वहाँ क्यों हैं? वे वहाँ इसलिये हैं कि कैलासपति भगवान् शङ्करसे उनका विवाह होगा, इसके लिये भारतवर्षके दक्षिणी सिरेपर रहकर तपस्या कर रही हैं। वे तपःशक्ति, भारतवर्षके दक्षिणमें रहकर उत्तरके कैलासपति भगवान् शङ्करसे विवाह करती हैं। जिसने कन्याकुमारीसे लेकर कैलास शिखरतकको एक कर दिया, इसका नाम है राष्ट्र-शक्ति। भगवान् श्रीरामचन्द्रने अवधसे उठकर लंकातक एक कर दिया—उत्तरसे दक्षिण, दक्षिणसे उत्तर। आपको यह मालूम है कि रामेश्वरम्में गङ्गोत्रीके जलके सिवा दूसरा जल साक्षात् मूर्तिपर नहीं चढ़ता। यह भी आपको मालूम है कि गङ्गाजी हिमालयसे निकलती हैं। किसलिये निकलती हैं? भगवान् शङ्करके सिरपर चढ़नेके लिये। लेकिन रामेश्वरम्के सिरपर कौन चढ़ेगा? गङ्गोत्रीके ऊपर, गौरीकुण्डके ऊपरका जल रामेश्वरम्पर चढ़ता है।

क्या आपको मालूम है, यह धर्म, यह नियम किसने बनाया? आप कभी बदरीनाथ, केदारनाथ गये हैं? कभी पशुपतिनाथ गये हैं? कभी अमरनाथ गये हैं? वहाँ जो भगवान्को सुपारी, नारियल और इलायची चढ़ती है ये कहाँसे आती हैं? आपको मालूम है, यह नियम किसने बनाया? कन्याकुमारीमें केसरसे देवीका शरीर रँग दिया जाता है। कश्मीरकी केसर कन्याकुमारीपर नित्य चढ़ती है और कन्याकुमारीकी सुपारी बदरीनाथ, अमरनाथ, पशुपतिनाथ, केदारनाथ इनको प्रतिदिन चढ़ती है। इसी प्रकार जगन्नाथपुरीसे बेंत लेकर लोग बदरीनाथ जाते और वहाँ पूजन करते हैं।

१- स्कन्दपुराणके कुमारिकाखण्डमें भगवती कुमारीके चरित्र एवं उनके क्षेत्र कौमारिकाखण्ड और कन्याकुमारी नामक तीर्थका विस्तृत वर्णन प्राप्त है।

भगवान् श्रीरामके बारेमें आपको मालूम है कि वे अवधसे चले और पहुँचे रामेश्वरम् और लंका। और श्रीकृष्ण द्वारकासे निकले तो कहाँ पहुँचे? भौमासुरकी राजधानी प्राग्ज्योतिषपुर, जहाँ पूर्व दिशामें सूर्योदय होता है। और जहाँ पश्चिम दिशामें सूर्यास्त होता है, वहाँ द्वारकामें राजधानी कृष्णकी और उन्होंने विवाह किया जाकर प्राग्ज्योतिषपुरमें। भौमासुरको मारा और उसकी कैदसे सोलह हजार कन्याओंको छुड़ाकर, अपनाकर उन्हें समाजमें ऊँचा स्थान दिया—प्रतिष्ठित किया। इस प्रकार पूर्वसे पश्चिमतक और उत्तरसे दक्षिणतक हमारे श्रीरामचन्द्र और श्रीकृष्णने राष्ट्रकी अखण्डता स्थापित की। आपको मालूम है श्रीमद्भागवतकी रचना व्यासजीने कहाँ की? बदरीनाथसे दो मील आगे माना दर्रा, जहाँ सरस्वती नदी बहती है। सरस्वती नदीके पश्चिम-तटपर मानाग्राम, जो तिब्बत-भारतकी सीमा माना जाता है, वहाँ व्यास भगवान्‌का शम्याप्रास नामक आश्रम है। अब भी लोग वहाँ जाते हैं और गुफाका दर्शन करते हैं। जहाँ पाण्डवोंने हिमालयमें अपना शरीर गलाया था, उसीको वसुधारा कहते हैं। यह स्थान मानासे दस-बारह मील आगे जाकर तिब्बतकी सीमामें है, जहाँ वसुधारा गिरती है और फुहियाँ उड़ती हैं, वहाँ बड़े दिव्य दृश्य देखनेको मिलते हैं एवं हमारे महात्मालोग अवधूत होकर तपस्या करते हैं। आपने सुना होगा, भगवान् श्रीशंकराचार्यने नेति दर्राके पास जोशीमठमें एक गुफामें बैठकर ब्रह्मसूत्रपर शारीरकभाष्य लिखा था।

यह सुपारी, नारियल, केसर, रामेश्वर, गङ्गोत्री, कन्याकुमारी और कैलासाधीश्वर भगवान शिव—इन सबके सम्बन्धको लेकर विचार करो, हमारे राष्ट्रका सांस्कृतिक रूप, धार्मिक रूप क्या है? आप जानते हैं कि यदि आज सरकार यह चाहे कि एक करोड़ रुपये प्रतिवर्ष पहाड़ी लोगोंके लिये भेज दिया जाय, इसके लिये हमपर टैक्स लगाया जाय तो आपको बहुत अखरेगा। आप कहेंगे, हम रहते हैं मैदानमें, पहाड़ी लोगोंको रुपये क्यों दें? लेकिन आप जानते हैं, व्यास भगवान्‌ने कहा—'बदरीनाथ आनेसे पुण्य होता है। ब्रह्मकपालीमें पिण्डदान करनेसे पितरोंका कल्याण हो जाता है।' और आज पचास लाखसे अधिक सालाना बदरीनाथ, पचास लाखसे अधिक सालाना केदारनाथ, पचास लाखसे अधिक सालाना अमरनाथ और पचास लाखसे अधिक सालाना पशुपतिनाथमें, इस प्रकार हर साल मैदानका रुपया धर्मके नामपर बिना टैक्स लगाये हमारे महापुरुषोंने पहुँचा दिया। हमारे जो लोग वहाँ रहते हैं, जो हिमालयकी रक्षा करते हैं, वहाँका व्यापारी, कुली, ब्राह्मण, वहाँका चातुर्वर्ण्य, वहाँका सिपाही बिना किसी परिश्रमके, बिना किसी टैक्सके वहाँ बैठे-ही-बैठे अपनी जीविका प्राप्त कर ले, यह धर्मके आधारपर हमारे ऋषि-महर्षियोंने राष्ट्र-सेवाकी व्यवस्था की थी। सारा काम कानूनसे नहीं चलता, इसके लिये कुछ सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक मर्यादाएँ भी बाँधनी होती हैं।

एक महात्माने तो कहा है कि जिस कानूनके पालनके लिये पुलिसका प्रयोग करना पड़े वह कानून ही गलत है, क्योंकि मनुष्य अपने हृदयसे उसे स्वीकार नहीं कर रहा है। उसके ऊपर जबरदस्ती वह लादा जा रहा है। यह धर्मका कानून है, यह संस्कृतिका कानून है, यह हमारे महात्माओंकी देन है।

देवी भगवती कहती हैं—**'अहं राष्ट्री, संगमनी वसूनाम्'**—मैं स्वयं राष्ट्र हूँ, राष्ट्रिय शक्ति हूँ। स्वामी रामतीर्थने कहा—'मैं भारतवर्ष हूँ। कन्याकुमारी मेरा पाँव है। हिमालय मेरा सिर है, सिन्धुकी ओर मेरा दाहिना और ब्रह्मपुत्रकी ओर मेरा बायाँ हाथ है। जब मैं बोलता हूँ, तब भारतवर्ष बोलता है। जब मैं चलता हूँ, तब भारतवर्ष चलता है। मेरी आवाज भारतवर्षकी आवाज है।'

स्वामी रामतीर्थने भारतवर्षसे ऐकात्म्य प्राप्त कर तादात्म्य प्राप्त करके, भारतकी आत्मा, भारतकी वाणीको सम्पूर्ण विश्वमें मुखरित किया था। इसका अभिप्राय यह है कि हमारा राष्ट्र 'हि' से लेकर 'इन्दु' पर्वततक है। 'हि' अर्थात् हिमालय और दक्षिणमें जो समुद्र है, चन्द्रमाको देखकर उछलनेवाला, वह इन्दुका प्रेमी इन्दुर अर्थात् पर्वताकार समुद्र ही इन्दु पर्वत है। 'हि' से लेकर इन्दुपर्यन्त इस देशकी सीमा होनेके कारण, इसे हिन्दु बोलते हैं। देवीपुराण, कालिकापुराण और मेरुतन्त्रमें 'हिन्दु' शब्दकी व्याख्या की गयी है। हिन्दू शब्दको लेकर सिन्धु शब्दकी एक दूसरी व्याख्या है—**'हिनस्ति दुष्टान् इति हिन्दुः।'** जो दुष्टोंकी हत्या करे, उसका नाम हिन्दु। जो हीनको दूषित करे, उसका नाम हिन्दू है। यह हिन्दू शब्द विदेशियोंका

दिया हुआ नहीं है। यह पूर्णतया वैदिक और भारतीय आचार्योंद्वारा प्रवर्तित सम्प्रदाय-विशेषका द्योतक है। हिन्दू शब्दका अर्थ है—जो पूर्व-परम्परासे भारतीय हो और भारतीय आचार्यद्वारा प्रवर्तित सम्प्रदायका अनुयायी हो। जिसका आचार्य विदेशी हो, वह हिन्दू नहीं। जो हिन्द देशमें पैदा हुआ हो और हिन्द देशमें पैदा हुए आचार्यके सम्प्रदायमें दीक्षित हुआ हो, वह हिन्दू। यह हिन्दू शब्द भी प्राचीन है। पौराणिक, तान्त्रिक और भावपूर्ण अर्थमें इसका प्रयोग हुआ है। इस तरह हिन्दू-बहुल देश होनेके कारण यह हिन्दुस्थान कहलाता है। इस हिन्दुस्थानके उस पार फारमोसा है। उच्चारण-भेदसे स्थानको स्तान कहने लगे। पारसथान जिसे परसिया, फारस-पारस कहते हैं, सिन्धुके इस पार है। इस प्रकार फारमोसातक पूर्वी सीमा और पारसथानतक पश्चिमी सीमा। इसके बीचमें यह हमारा भारतराष्ट्र भरतवंशियोंके द्वारा सेवित राष्ट्र, इसे जो अपना राष्ट्र मानकर अपने व्यक्तिगत सुख-स्वार्थको छोड़कर इसकी सेवा करता है, वह अपने कर्तव्यका, धर्मका पालन करता है और कर्तव्य एवं धर्मका पालन हमेशा अन्तःकरणको शुद्ध करनेवाला होता है। श्रम उसे कहते हैं, जो लोहेको साफ कर दे। जिस कर्मसे हृदयकी शुद्धि हो, उसका नाम धर्म और जिस कर्मसे लोहेकी, मिट्टीकी, बाहरी पदार्थोंकी शुद्धि हो, उसका नाम श्रम। तो जो भी कर्तव्य अथवा धर्मका पालन किया जाता है, वह हृदयको शुद्ध करनेके लिये और जब हृदय साफ होता है, वासनाएँ निवृत्त होती हैं, कामनाएँ निवृत्त होती हैं, तब हम प्रत्यक्चैतन्यभिन्न ब्रह्मतत्त्वके साक्षात्कारके योग्य, भगवान्‌के दर्शनके योग्य, भगवान्‌की सेवाके योग्य बनते हैं। तभी योग्य बनते हैं जब धर्मानुष्ठानके द्वारा, कर्तव्यपालनके द्वारा हमारा हृदय शुद्ध होता है। इसलिये राष्ट्रसेवा असली आत्मसेवा है। यह नहीं समझना चाहिये कि यदि हम राष्ट्र-सेवा करने लगेंगे तो हमें भगवान् नहीं मिलेंगे। यह नहीं सोचना चाहिये कि यदि हम राष्ट्र-सेवा करने लगेंगे, तो हमें ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान नहीं होगा। यह तो इसके रास्तेमें एक मंजिल है। इसलिये राष्ट्रियताको स्वीकार करके, राष्ट्रकी भलाईकी दृष्टिसे, आप अपने कर्तव्यका, धर्मका पालन करें। इसीके द्वारा आपका शरीर भी ठीक-ठिकाने रहेगा, भौतिक उन्नति भी होगी और आत्मसेवा भी। उस उन्नतिके साथ-साथ अन्तःकरण शुद्ध होगा। आत्मसेवा माने मन और बुद्धिकी सेवा। सूक्ष्म शरीरकी भी सेवा होगी और इसीके द्वारा आपको योगकी योग्यता, समाधिकी योग्यता भी प्राप्त होगी और इसीके द्वारा ब्रह्मात्मैक्यज्ञान भी होगा। इसलिये राष्ट्र-सेवा और आत्मसेवामें कोई विरोध नहीं है। जो सत्संगके मार्गपर चलता है, उसे भी राष्ट्र-सेवा बड़े प्रेमसे करनी चाहिये। यह सेवा उसके मार्गकी विरोधी नहीं, बल्कि सहायक है। यह राष्ट्र-सेवा—राष्ट्र-प्रेम आपको भगवत्प्राप्तिकी ओर ले जायगा।

एक महात्माका प्रसाद

प्रीति प्रीतमका ही स्वभाव है। प्रीतिमें ही प्रीतमका नित्य वास है। प्रियताकी जागृतिमें ही रसकी अभिव्यक्ति है। रसकी अभिव्यक्तिमें ही जीवनकी पूर्णता है। रस और सुखमें बड़ा भेद है। रससे अरुचि नहीं होती और न रसकी क्षति, निवृत्ति तथा पूर्ति ही होती है। रसकी नित नव-वृद्धि होती है, इस दृष्टिसे रस अनन्त है। सुखके भोगमें मानव पराधीन है, वह श्रमित हो असमर्थता, अभाव एवं पराधीनतामें आबद्ध होता है, पर रसकी अभिव्यक्तिमें श्रम, पराधीनता, अभाव आदिकी गन्ध भी नहीं है। रसकी भूख बढ़नेपर ही सुखासक्तिका नाश होता है। सुखासक्तिका नाश होते ही रसकी अभिव्यक्ति स्वतः होती है। रस अनन्तका स्वभाव है और मानवकी माँग है। रसकी माँगसे निराश होना घोर प्रमाद है। सुखकी आशा करना भूल है। नित्य नव-रसकी उत्कण्ठा उत्तरोत्तर बढ़ती रहे, यही मानवके प्रयासकी परावधि है। रससे मानवकी जातीय तथा स्वरूपकी एकता है और सुखसे मानवकी केवल मानी हुई एकता है, वास्तविक नहीं, कारण कि सुखकी उत्पत्ति दुःख तथा पराधीनतासे होती है। जिसका मूल दुःख तथा पराधीनता है, उससे जातीय एकता हो नहीं सकती। अतः सुखकी आशाका त्याग तथा रसकी उत्कट लालसा जाग्रत् करनेमें ही मानवके दायित्वकी परावधि है।

मनुष्य-जीवनका परम कर्तव्य

(नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

महात्मा श्रीचरणदासजीने एक जगह लिखा है—एक नगर था। उस नगरमें ऐसी प्रथा थी कि एक वर्ष पूरा हो जानेपर उस नगरके राजाको गद्दीसे उतार दिया जाता था और नये राजाको बैठाया जाता था। पुराने राजाको नावमें बैठाकर नदीपार भीषण वनमें अकेला छोड़ दिया जाता था। प्रतिवर्ष इस प्रकार होता था। यों कई मनुष्य राजा बने और वर्ष पूरा हो जानेपर जंगलमें जाकर दुःख भोगने लगे। एक वर्षतक राज्य-सुख-भोगमें वे इतने आसक्त रहते थे कि उन्हें, एक वर्षके बाद क्या स्थिति होगी, इसकी याद ही नहीं रहती थी।

एक बार इसी नियमानुसार एक मनुष्यको राजगद्दी मिली। वह बहुत बुद्धिमान् था। उसने गद्दीपर बैठते ही पूछा—'यह कितने दिनोंके लिये है?' कर्मचारियोंने बताया—'एक वर्षके लिये है।' उसने पूछा—'फिर क्या होगा?' उसको बताया गया कि 'एक वर्ष पूरा होनेके बाद आपसे यह राज्यसत्ता छीन ली जायगी; आपकी सारी सम्पत्ति, यहाँतक कि वस्त्र भी उतार लिये जायँगे। केवल एक धोती पहने आपको नदीके उस पार बीहड़ वनमें अकेले जाना पड़ेगा। नाववाले आपको वहाँ उतारकर लौट आयेंगे। यही यहाँकी सनातन प्रथा है।' यह सुनकर उसने सोचा कि 'एक वर्ष तो बहुत है। इतने समयमें तो सब कुछ किया जा सकता है।' उसने राज्यका भार हाथमें लिया और सावधानी तथा ईमानदारीसे न्यायपूर्वक प्रजापालन करने लगा, पर एक वर्षकी अवधिको नहीं भूला। उसने अपने व्यक्तिगत सुखोंकी कुछ भी परवा नहीं की। नाच-मुजरे, अभिनन्दन-सम्मान, मौज-शौक, खेल-तमाशे आदि व्यर्थके कार्य सब बंद कर दिये और यह आदेश दे दिया कि 'नदीपारका जंगल काटकर वहाँ बस्ती बसायी जाय। नगर बने। प्रचुर मात्रामें साधन-सामग्री तथा काम करनेवाले योग्य पुरुष वहाँ भेज दिये जायँ। वर्ष पूरा होनेके पहले-पहले वहाँ सब व्यवस्था ठीक हो जाय।' इस प्रकार आदेश देकर वह अपना काम सँभालने लगा। राज्य-सुख भोगनेमें उसने अपना समय नष्ट नहीं किया। किंतु एक वर्षके बाद उसे दुःख भोगना न पड़े और सब सुख-सुविधा बनी रहे, इसके लिये वह प्रयत्न करता रहा। एक वर्षकी अवधिमें वहाँ जंगलकी जगह एक छोटा-सा सुन्दर देश बस गया। सब सामग्रियाँ वहाँ सुलभ हो गयीं। एक वर्ष पूरा हो जानेके बाद उसको गद्दीपरसे उतार दिया गया। वह तो हँस रहा था। उसको किसी बातकी चिन्ता न थी। वह जब नावमें चढ़कर हँसता हुआ नदी-पार जाने लगा, तब नाविकोंने पूछा—'और वर्ष तो जो लोग जाते थे, सभी रोते थे, आप कैसे हँस रहे हैं?' उसने कहा—'भाई! वे लोग एक वर्षतक राज्य-सुख भोगते रहे, मौज-मजे करते रहे, विषयानन्दमें निमग्न रहे। उन्होंने भविष्यका विचार नहीं किया। इसीसे वे रोते गये। परंतु मैं सावधान था। मैं बराबर विचार करता रहा कि एक वर्षके बाद तो यह राज्य तथा यहाँका सब कुछ छोड़कर जाना पड़ेगा। इसलिये मैंने सारे व्यर्थके कार्य रोक दिये, सारे व्यक्तिगत आमोद-प्रमोद बंद कर दिये और एक वर्षके बादकी स्थिति सँभालनेके लिये प्रयत्न करता रहा। अब मुझे कोई चिन्ता नहीं है; क्योंकि एक वर्षकी राज्यसत्ताका मैंने पूरा लाभ उठा लिया है। इसीलिये मैं हँस रहा हूँ।'

यह एक दृष्टान्त है। सिद्धान्तमें यह समझना चाहिये कि हमको यह देव-दुर्लभ मानव-शरीर एक नियत समयके लिये ही मिला है। नियत समय पूरा होनेपर यह हमसे छीन लिया जायगा और इसके सारे साज-सामान भी यहीं छूट जायँगे। जबतक जीवनका यह नियत काल पूरा न हो जाय, तभीतक मानव-जीवनका पूरा लाभ उठा लेना चाहिये। भगवान्‌का सतत स्मरण करना चाहिये और संसारके प्राणी-पदार्थोंमें मोह न रखकर, यहाँके भोगोंसे विरक्त और उपरत रहकर, पवित्र निष्पाप जीवन बिताते हुए इन्द्रिय-संयमपूर्वक सबमें भगवद्भाव रखकर सबकी सेवा करनी चाहिये, जिससे दुःख न उठाना पड़े। जीवन क्षणभङ्गुर है। पता नहीं, कब मृत्यु आ जाय।

एक भ्रमर सायंकालके समय एक कमलपर बैठकर उसका रस पी रहा था। इतनेमें सूर्यास्त होनेको आ गया। सूर्यास्त होनेपर कमल संकुचित हो जाता है। अतः कमल बंद होने लगा, पर रसलोभी मधुप विचार करने लगा—अभी क्या

जल्दी है, रातभर आनन्दसे रसपान करते रहें—

रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं
भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पङ्कजश्रीः।
इत्थं विचिन्तयति कोशगते द्विरेफे
हा हन्त हन्त नलिनीं गज उज्जहार॥

'रात बीतेगी। सुन्दर प्रभात होगा। सूर्यदेव उदित होंगे। उनकी किरणोंसे कमल पुनः खिल उठेगा, तब मैं बाहर निकल जाऊँगा। वह भ्रमर इस प्रकार विचार कर ही रहा था कि हाय! एक जंगली हाथीने आकर कमलको डंडीसमेत उखाड़कर दाँतोंमें दबाकर पीस डाला। यों उस कमलके साथ भ्रमर भी हाथीका ग्रास बन गया।' इस प्रकार पता नहीं, कालरूपी हाथी कब हमारा ग्रास कर जाय। मृत्यु आनेपर एक श्वास भी अधिक नहीं मिलेगा। मृत्युकाल आनेपर एक क्षणके लिये भी कोई जीवित नहीं रह सकता। उस समय कोई कहे कि 'मैंने वसीयतनामा (will) बनाया है। कागज (Document) तैयार है। केवल हस्ताक्षर करने बाकी हैं। एक श्वास अधिक मिल जाय तो मैं सही कर दूँ।' पर काल यह सब नहीं सुनता। बाध्य होकर मरना ही पड़ता है। यह है हमारे जीवनकी स्थिति। अतएव मानव-जीवनकी सफलताके लिये संसारके पदार्थोंसे ममता हटाकर भगवान्‌में ममता करनी चाहिये। तुलसीदासजी कहते हैं—

तुलसी ममता राम सों समता सब संसार।
राग न रोष न दोष दुख दास भये भव पार॥

हम प्राणी-पदार्थोंमें ममता बढ़ाते हैं, पर यह ममता स्वार्थमूलक है। स्वार्थमें जरा-सा धक्का लगते ही यह ममता टूट जाती है। इसीलिये भगवान् कहते हैं—

जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहद परिवारा॥
सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि डोरी॥

भगवान् श्रीरामचन्द्रजी विभीषणसे कहते हैं—माता, पिता, भाई, पुत्र, स्त्री, शरीर, धन, सुहृद्, मकान, परिवार—सबकी ममताके धागोंको सब जगहसे बटोर लो। ममताको धागा इसलिये कहा गया है कि उसे टूटते देर नहीं लगती। फिर उन सबकी एक मजबूत डोरी बट लो। उस डोरीसे अपने मनको मेरे चरणोंसे बाँध दो। अर्थात् मेरे चरण ही तुम्हारे रहें, और कुछ भी तुम्हारा न हो। सारी ममता मेरे चरणोंमें ही आकर केन्द्रित हो जाय। ऐसा करनेसे क्या होगा? देखो—

अस सज्जन मम उर बस कैसें। लोभी हृदयँ बसइ धनु जैसें॥

ऐसे सत्पुरुष मेरे हृदयमें वैसे ही बसते हैं, जैसे लोभीके हृदयमें धन। अर्थात् लोभीके धनकी तरह मैं उन्हें अपने हृदयमें रखता हूँ। अतः संसारके प्राणी-पदार्थोंसे ममता हटाकर एकमात्र भगवान्‌में ममता करनी चाहिये।

भगवान् और भोगमें बड़ा भारी अन्तर है। उनके स्वरूप, साधन और फलके बारेमें मैं आपको सात बातें बताता हूँ—

(१) भगवान्‌की प्राप्ति इच्छासे होती है। इसमें कर्मकी अपेक्षा नहीं, अतः यह सहज है।

भोगोंकी प्राप्तिमें कर्मकी अपेक्षा है। प्रारब्धकर्मके बिना, चाहे जितनी प्रबल इच्छा की जाय, भोग नहीं मिलते।

(२) भगवान् एक बार प्राप्त हो जानेपर कभी बिछुड़ते नहीं।

भोग बिना बिछुड़े रहते नहीं। उनका वियोग अवश्यम्भावी है, चाहे भोगोंको छोड़कर हम मर जायँ।

(३) भगवान्‌की प्राप्ति जब होती है, पूरी ही होती है; क्योंकि भगवान् नित्यपूर्ण हैं।

भोगोंकी प्राप्ति सदा अधूरी होती है, क्योंकि भोग कभी पूर्ण हैं ही नहीं।

(४) भगवान्‌को प्राप्त करनेकी इच्छा होते ही पापोंका नाश होने लगता है।

भोगोंको प्राप्त करनेकी इच्छा होते ही पाप होने लगते हैं।

(५) भगवान्‌को प्राप्त करनेकी साधनामें ही शान्ति मिलती है।

भोगोंको प्राप्त करनेकी साधनामें अशान्ति बढ़ जाती है।

(६) भगवान्‌का स्मरण करते हुए मरनेवाला सुख-शान्तिपूर्वक मरता है।

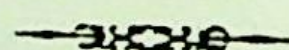
भोगोंमें मन रखते हुए मरनेवाला अशान्ति और दुःख-पूर्वक मरता है।

(७) भगवान्‌को स्मरण करके मरनेवाला निश्चय ही भगवान्‌को प्राप्त होता है।

भोगोंमें मन रखकर मरनेवाला निश्चय ही नरकोंमें जाता है।

इन सात भेदोंको समझकर मनुष्यको चाहिये कि वह

नित्य-निरन्तर भगवान्‌का भजन ही करे। भगवान्‌का भजन नित्य, अखण्ड और पूर्ण शान्ति देनेवाला है। सदा-सर्वदा भगवान्‌का स्मरण बना रहे, इसलिये समस्त कार्य भगवत्सेवाके भावसे करने चाहिये तथा सब भूत-प्राणियोंमें भगवद्भाव करना चाहिये और सबको मन-ही-मन प्रणाम करना चाहिये। यह बहुत ही श्रेष्ठ साधन है। जिससे भी हमारा व्यवहार पड़े, उसीमें भगवद्भाव करे। न्यायाधीश समझे कि अपराधीके रूपमें भगवान् ही मेरे सामने खड़े हैं। उन्हें मन-ही-मन प्रणाम करे और उनसे मन-ही-मन कहे कि 'इस समय आपका स्वाँग अपराधीका है और मेरा न्यायाधीशका। आपके आदेशके पालनार्थ मैं न्याय करूँगा और न्यायानुसार आवश्यक होनेपर दण्ड भी दूँगा। पर प्रभो! न्याय करते समय भी मैं यह न भूलूँ कि इस रूपमें आप ही मेरे सामने हैं और आपके प्रीत्यर्थ ही मैं आपकी सेवाके लिये अपने स्वाँगके अनुसार कार्य कर रहा हूँ।' इसी प्रकार एक भंगिन माता सामने आ जाय तो उसको भगवान् समझकर मन-ही-मन प्रणाम करे और स्वाँगके अनुसार बर्ताव करे। यों ही वकील मवक्किलको, दूकानदार ग्राहकको, डॉक्टर रोगीको, नौकर मालिकको, पत्नी पतिको, पुत्र पिताको और इसी प्रकार अपराधी न्यायाधीशको, भंगिन उच्चवर्णके लोगोंको, मवक्किल वकीलको, ग्राहक दूकानदारको, रोगी डॉक्टरको, मालिक नौकरको, पति पत्नीको, पिता पुत्रको भगवान् समझकर व्यवहार करे, बर्ताव करे स्वाँगके अनुसार, पर मनमें भगवद्भाव रखे तो बर्तावके सारे दोष अपने-आप नष्ट हो जायँगे। अपने-आप सच्ची सेवा बनेगी। भगवान्‌की नित्य-स्मृति बनी रहेगी। यों मनुष्य दिनभर अपने प्रत्येक कार्यके द्वारा भगवान्‌की पूजा कर सकेगा। भगवान्‌ने कहा है—**'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।'**—अपने कर्मके द्वारा भगवान्‌को पूजकर मनुष्य भगवत्प्राप्तिरूप परम सिद्धिको प्राप्त करता है। अतएव मानव-जीवनका परम कर्तव्य समझकर सभीको भगवत्स्मरण तथा भगवत्सेवामें जीवन बिताना चाहिये।



'मामेकं शरणं व्रज'

(प्राचार्य डॉ॰ श्रीजयनारायणजी मल्लिक)

भगवान्‌से मिलनेके अनेकों मार्ग हैं, जिनमें ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग मुख्य हैं। शरणागति सभी भक्तियोंका यहाँतक कि पराभक्तिका भी प्राणरूप है, जो मोक्षका या भक्तिभावका अनुपम सुखरूप, सबसे सुलभ और सर्वोत्तम साधन है। इसीका दूसरा नाम प्रपत्ति है। प्रपत्तिका मार्ग सबसे अधिक सुगम और आनन्दप्रद है। इसमें स्त्री तथा शूद्र सभीका अधिकार है। जो सब तरहसे गरीब, अकिञ्चन और निःसहाय है, जिसके पास न धन है, न बल है, न विद्या है, न ऊँची जाति है, न शास्त्रादि पढ़नेका अधिकार और योग्यता है, जिसे संसारने पतित कहकर ठुकरा दिया है, उसके कल्याणके लिये तो केवल शरणागति ही एकमात्र उपाय है। भगवान्‌की शरणागतिमें सबका अधिकार है। कर्म, ज्ञान और भक्तिके मार्ग भले ही कभी विफल हो जायँ या उलझनमें डाल दें, पर प्रपत्तिके मार्गमें सफलता निश्चित है। कर्मयोग, ज्ञानयोग एवं भक्तियोगमें मनुष्यको स्वतः प्रयास करना पड़ता है, अतः सफलता संदिग्ध हो जाती है, क्योंकि मनुष्य कमजोरियोंका पुतला है, प्रलोभनोंमें पड़कर वह भूल भी कर बैठता है। भोग-वासना अनेक कूकर, शूकर आदि योनियोंके भोग-अभ्याससे इतनी बलवती हो गयी है कि भोग-सामग्रियोंके बीचमें सामान्य मनुष्यकी तो बात ही क्या, आजकलके बड़े-बड़े नेता और महात्मा कहलानेवाले लोग भी उसके प्रभावमें बहने लग जाते हैं।

प्रपत्तिमें मनुष्य अपना भार भगवान्‌के ऊपर सौंप देता है। प्रपत्तिमें साधक आर्त और निःसहाय होकर सोचता है कि अपने बलपर मोक्ष पाना या इस भयंकर संसारमें थोड़ी भी आध्यात्मिक उन्नति करना दुर्लभ है, अतः भगवान्‌की प्राप्तिमें भगवान्‌के चरणोंकी शरणागति ही एकमात्र निष्कण्टक तथा निर्विघ्न उपाय है। वह अपनेको अनन्त अपराधी समझकर अत्यन्त दीन-हीन-भावसे भगवान्‌के शरणागत हो जाता है और अपनेको उनके श्रीचरणोंमें सौंप देता है। आत्म-समर्पणका अर्थ है अपने तन-मन-धनको भगवान्‌के श्रीचरणोंपर भगवत्सेवामें समर्पित कर देना। प्रपन्नके

शरीरपर, मनपर और धनपर परमात्माका अधिकार हो जाता है। प्रपन्न इन्हें भगवत्कैंकर्य छोड़कर अन्यत्र नहीं लगा सकता। शरीरकी रक्षा, परिवारका भरण-पोषण, शिक्षा और चिकित्सा, दीन-दुखियोंके कष्टोंको दूर करना, परोपकार, मानवताकी सेवा, सब कुछ भगवत्कैंकर्य हैं। भगवन्निमित्त कर्तव्यकी प्रेरणासे जो कुछ किया जाय, वह भगवत्कैंकर्य है। विश्राम, मनोविनोद, क्रीडा, मनोरञ्जन, जो कुछ भी थकावट और शारीरिक श्रान्तिको दूर करनेके लिये किया जाय तथा शरीरमें नवीन स्फूर्ति, चेतना और उत्साह ले आये, वह सब भगवत्कैंकर्यका ही चमत्कार है, पर विलासिता और व्यसन—ये भगवत्कैंकर्यके अन्तर्गत नहीं आ सकते, क्योंकि ये पतन या नरकके द्वार कहे गये हैं।

शरणागति और आत्म-समर्पणके बाद माताकी तरह शिशुकी रक्षाका भार परमात्माका हो जाता है। परमात्मा शरणागतको जिस अवस्थामें रखें, प्रपन्नका केवल एक ही कर्तव्य रह जाता है कि सभी अवस्थाओंमें प्रसन्न रहकर भगवान्‌को एकटकसे देखना। प्रपन्नके जीवनका स्वरूप ही है—'भगवत्कैंकर्य।' संसारके सारे कर्मोंको वह भगवत्कैंकर्य ही समझकर करता है। भगवान् उसे जिस परिस्थितिमें रखते हैं, उसके अनुकूल आचरण भगवत्कैंकर्य है। केवल स्वार्थ तथा भोग-वासनासे प्रेरित होकर कर्म नहीं करना, कर्तव्यकी प्रेरणासे भगवत्सेवा समझकर कर्म करना। प्रपन्न समझता है—***'सब नर हैं भगवत्स्वरूप।', 'सीय राम मय सब जग जानी।'*** **'ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किं च जगत्यां जगत्।', 'वासुदेवः सर्वम्।'**

यह सारा संसार ब्रह्ममय है—ब्रह्म-ज्योतिसे ओत-प्रोत है। जीवात्मा परमात्माका अंश है और वह प्रत्येक नर-नारीके शरीरमें व्याप्त है। अतः प्रत्येक नर-नारीका शरीर परमात्माका मन्दिर ही है। अन्तर्यामी भगवान् सर्वत्र, सभी प्राणियोंके कण-कणमें अनुस्यूत हैं। ऐसा कोई भी एकान्त स्थल नहीं है, जहाँ अन्तर्यामी भगवान् न हों और जहाँ मनुष्य छिपकर पाप कर सके। एकान्त स्थलमें छिपकर पाप करनेवाला अन्तर्यामी भगवान्‌की अवहेलना करता है। मानवताकी सेवा भगवत्कैंकर्य है। किसीकी निन्दा करना, किसीकी बुराई सोचना, किसीको कष्ट देना, किसीका दिल दुखाना अन्तर्यामी भगवान्‌की अवहेलना है। भगवान् विश्वरूप हैं और जड-चेतन, चित्-अचित्से बना संसार इनका शरीर है। संसार ब्रह्मकी विभूति है। आचार्य शंकरने भी व्यवहार-पक्षमें संसारको सत्य माना है। परमात्माकी ज्योति संसारमें सर्वत्र फैली हुई है, अतः किसीको घृणा और अपमानकी दृष्टिसे देखना भगवान्‌का अनादर है।

ज्ञानी एवं जीवन्मुक्त सिद्ध भी जिनकी स्वरूपावस्थिति नित्य सच्चिदानन्दघन परमात्मामें होती है, भक्तिके लिये स्वेच्छानुसार विग्रह धारणकर भगवान्‌के चरणोंकी उपासना करते हैं।

'मुक्ता अपि स्वलीलया विग्रहं कृत्वा भजन्ते।'

—और वे शरणागतिको मुक्तिसे भी करोड़ों गुना आनन्दप्रद मानते हैं। जैसे कि अपने बोधसारमें नरहरिपण्डितने लिखा है—

भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्।
पारमार्थिकमद्वैतं द्वैतं भजनहेतवे।
तादृशी यदि भक्तिः स्यात् सा तु मुक्तिशताधिका॥

भगवद्गीता सभी उपनिषदों, इतिहास-पुराणों एवं अन्यान्य गीताओंकी भी सारस्वरूपा है। यह भी निरन्तर शरणागतिको ही साधनसर्वस्व बतलाती है। पहले अर्जुन भगवान्‌की शरणमें जाते हैं—**'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥'** भगवान् अर्जुनके प्रति अपने उपदेशोंमें बार-बार शरणागतिके उपदेशके ही अभ्यासकी बात करते हुए कहते हैं—इस संसारके संतरणका कोई उपाय नहीं। जो मेरी शरणमें आते हैं, वे इसे तुरंत पार कर जाते हैं—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

'क्योंकि यह अलौकिक अर्थात् अति अद्भुत त्रिगुणमयी मेरी माया बड़ी दुस्तर है, परंतु जो पुरुष केवल मुझको ही निरन्तर भजते हैं, वे इस मायाको उल्लङ्घन कर जाते हैं, अर्थात् संसारसे तर जाते हैं।'

'दुःख मनुष्यत्वके विकासका साधन है। सच्चे मनुष्यका जीवन दुःखमें ही खिल उठता है। सोनेका रंग तपानेपर ही चमकता है।'

शाकाहारी भाइयो ! चाँदीके वर्ककी चकाचौंधसे सावधान

क्या आप अपने भोजनकी समाप्ति पान, मिठाई या फिर सुपारीसे करना पसंद करते हैं ? इन चीजोंका आकर्षण बढ़ जाता है, यदि इन्हें वर्कसे लपेटा जाता है। विशेषकर ठंडाईयुक्त सुपारी तो वर्कसे खूब चमचमाती है। तीज-त्योहारोंके अवसरोंमें घरपर बनी मिठाइयोंपर भी वर्क लगाया जाता है। वर्कके लगे रहनेसे मिठाई भी अधिक लुभावनी दीखती है। आजकल बाजारमें अच्छे फलोंपर भी वर्ककी चकाचौंध उन्हें निम्न कोटिके फलोंसे अलग करती है। क्या आपने लाल सेबपर चाँदीकी बूँदा-बाँदी नहीं देखी है ? कई दवाइयोंमें भी वर्कका उपयोग होता है।

वर्क कैसे बनता है, इसका बीभत्स वर्णन सुनकर आपको विश्वास नहीं होगा। चाँदी या कभी-कभी सोनेकी धातुकी पतली परतको साँड़की अँतड़ियोंकी चमड़ीके परतोंके बीचमें रखा जाता है। उन परतोंको पहले ही एक किताबकी तरह जिल्द कर दिया जाता है। सरल भाषामें तो यही कहेंगे कि एक निरीह साँड़को कसाईखानेमें मारकर उसकी अँतड़ियोंको निकालकर वर्क बनानेवालोंको तुरंत ही बेचा जाता है। एक दिनकी पुरानी चमड़ी भी अनुपयोगी हो जाती है, क्योंकि उसमें लचीलापन नहीं रहता। वर्क बनानेवाला साँड़की अँतड़ियोंको रक्त और मलसे रहित करके उसके टुकड़े-टुकड़े करके एकके ऊपर एक रखता जाता है। फिर वह चाँदीकी परतोंको इन चमड़ियोंके बीचमें रखकर उसे तबतक पीटता है, जबतक वह बिकने लायक पतली परत नहीं हो जाती। साँड़की अँतड़ियोंमें ही इतनी मजबूती रहती है कि इतना पीटनेके बावजूद भी वह टूटती नहीं और धातुको भी बिना तोड़े पतला कर देती है। फिर साँड़की अँतड़ियोंका कुछ भाग इस धातुका हिस्सा बन ही जाता है, क्योंकि हथौड़ा तो चमड़ी और धातु दोनोंपर एक साथ प्रहार करता है।

खानेके लिये यह कितनी घृणित वस्तु है। मांसाहारी लोग भी खानेमें अँतड़ियोंका प्रयोग शायद ही करते होंगे। यह तो स्पष्ट मांसाहार है और इसका उपयोग पान, सुपारी और मिठाईको भी मांसाहार बना देता है। कुछ ही साल-पूर्व भारतीय वायु-सेवामें जब मालूम हुआ कि वर्क शाकाहारी नहीं है, वहाँ हवाईजहाजोंमें परोसे जानेवाली मिठाइयोंपर वर्कका प्रयोग बंद कर दिया गया।

मीलों लंबी अँतड़ियाँ पचा जानेवाले शाकाहारियोंके लिये एक और खुशखबरी है—चूना भी शाकाहारी नहीं है। कुछ चूना चूनेके पत्थरसे बनता है, जो वैसे ही हानिकारक है, परंतु ज्यादातर चूना, जिसे पानवाले बेचते हैं, सीपसे बनता है और सीप निर्जीव नहीं है। वह तो छोटे समुद्री प्राणियोंके शरीरका हिस्सा है। ये सीप समुद्र और किनारा दोनोंको साफ रखनेमें हमारी सहायता करते हैं। इन छोटे प्राणियोंको पानीसे निकालकर मार दिया जाता है, तत्पश्चात् उनकी सीपोंको पकाकर 'इथिल' नामक मिश्रण बनता है। यह इथिल पानीमें भिगोकर नरम करके सुखाया जाता है, फिर इसे कूटकर एक सफेद पाउडर बनता है, जिसे एक विशेष गोंदमें मिलाकर चूना तैयार होता है।

अतः याद रखिये, आप जितनी बार चूना मुँहमें लेते हैं, उतनी बार मृत प्राणियोंका अवशेष ग्रहण करते हैं। यह तो एक बकरी या सूअरको मारकर खानेके बराबर है, क्योंकि प्राण और दर्द तो सभी प्राणियोंमें समान है।

अगली बार जब आप पान खायें, चूनेको छोड़ दें और साथ ही साथ अपने खानेमें वर्कके रूपमें अँतड़ियोंका प्रयोग न करें। यदि आप किसी सुपारीके कारखानेके मालिकको जानते हैं तो उसे वर्कका उपयोग करनेसे रोककर पुण्य कमायें। कई बार सड़ी, पुरानी सुपारीके ऊपर वर्क या ठंडाईका प्रयोग करके उसकी दुर्गंधको दबा दिया जाता है। यह तो अपने शरीरके लिये अति हानिकारक है। यदि सुपारीपर वर्क नहीं लगाया जायगा तो आप स्वयं ही जान जायँगे कि सुपारी ताजी और खाने लायक है या नहीं।

वर्क (चाँदी या सोनेकी वर्क) हिंसासे बनी एक वस्तु है। उसका उपयोग न करें। **[संकलित]**

'पुत्र, स्त्री और धनसे सच्ची तृप्ति नहीं हो सकती। यदि होती तो अबतक किसी-न-किसी योनिमें हो ही जाती। सच्ची तृप्तिका विषय है केवल परमात्मा; जिसके मिल जानेपर जीव सदाके लिये तृप्त हो जाता है।'

साधकोंके प्रति—

अहंकार तथा उसकी निवृत्ति

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

जीवके बन्धनका मूल कारण है—अहंकार। अहंकार दो तरहका होता है—

(१) अपरा (जड) प्रकृतिका धातुरूप अहंकार (गीता ७।४, १३।५)। इसको अहंवृत्ति (वृत्तिरूप समष्टि अहंकार) भी कहते हैं।

(२) चेतनके द्वारा अपरा प्रकृतिके साथ माने हुए सम्बन्धसे होनेवाला तादात्म्यरूप अहंकार। इसको चिज्जड-ग्रन्थि (ग्रन्थिरूप व्यष्टि अहंकार) भी कहते हैं।

धातुरूप अहंकारमें कोई दोष नहीं है; क्योंकि यह अहंकार,मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ आदिकी तरह एक करण ही है। इसलिये सम्पूर्ण दोष तादात्म्यरूप अहंकारमें अर्थात् देहाभिमानमें ही हैं—**'देहाभिमानिनि सर्वे दोषाः प्रादुर्भवन्ति।'** जीवन्मुक्त तत्त्वज्ञ भगवत्प्रेमी महापुरुषमें तादात्म्यरूप अहंकारका सर्वथा अभाव होता है; अतः उसके कहलानेवाले शरीरके द्वारा होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाएँ धातुरूप अहंकारसे ही होती हैं*। परंतु जड प्रकृतिके कार्य शरीरको अपना स्वरूप मान लेनेके कारण मनुष्य अज्ञानवश अपनेको उन क्रियाओंका कर्ता मान लेता है और बँध जाता है—**'अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥'** (३।२७)।

तादात्म्यरूप अहंकार ('मैं हूँ') से परिच्छिन्नता (एकदेशीयता) आती है। परिच्छिन्नता आते ही इस अहंकारके कई भेद हो जाते हैं। वर्ण, आश्रम, शरीर, अवस्था, योग्यता, सम्बन्ध, व्यवसाय, धर्म, उपासना आदिको लेकर अहंकारके सैकड़ों-हजारों भेद हो जाते हैं। जैसे, वर्णको लेकर—'मैं ब्राह्मण हूँ', 'मैं क्षत्रिय हूँ' आदि; आश्रमको लेकर—'मैं ब्रह्मचारी हूँ', 'मैं गृहस्थ हूँ' आदि; शरीरको लेकर—'मैं पुरुष हूँ', 'मैं स्त्री हूँ', 'मैं मनुष्य हूँ', 'मैं देवता हूँ' आदि; अवस्थाको लेकर—'मैं बालक हूँ', 'मैं जवान हूँ' आदि; योग्यताको लेकर—'मैं पढ़ा-लिखा हूँ', 'मैं अपढ़ हूँ', 'मैं समझदार हूँ' आदि; सम्बन्धको लेकर—'मैं पिता हूँ', 'मैं माता हूँ', 'मैं पुत्र हूँ' आदि; व्यवसायको लेकर—'मैं अध्यापक हूँ', 'मैं व्यापारी हूँ' आदि; धर्मको लेकर—'मैं हिन्दू हूँ', 'मैं मुसलमान हूँ', 'मैं ईसाई हूँ' आदि; उपासनाको लेकर—'मैं निर्गुणोपासक हूँ', 'मैं सगुणोपासक हूँ', 'मैं रामका उपासक हूँ', 'मैं कृष्णका उपासक हूँ' आदि। ये सब-के-सब भेद अहम्‌में ही हैं, तत्त्वमें नहीं। इन सबमें 'मैं' तो अनेक हैं, पर 'हूँ' (सत्ता) एक ही है†।

सम्पूर्ण सृष्टि त्रिगुणात्मक है। श्रीमद्भागवतमें अहंकारको भी तीन प्रकारका बताया गया है—सात्त्विक, राजस और तामस। अतः सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणके जितने भी भेद सृष्टिमें पाये जाते हैं, वे सब अहंकारमें ही हैं। जबतक व्यष्टि अहंकार रहता है, तबतक साधकोंमें और उनके साधनोंमें भेद रहता है। परंतु तत्त्वकी प्राप्ति होनेपर भेद नहीं रहता। जबतक दार्शनिकोंमें और दर्शनशास्त्रका अध्ययन करनेवालोंमें किंचित् भी व्यष्टि अहंकार रहता है, तबतक दर्शनोंका भेद रहता है‡। अहम्‌के कारण ही दार्शनिकोंमें परस्पर विरोध और अपने-अपने मतका आग्रह (पक्षपात) रहता है, जिससे वे अपने मतका मण्डन और दूसरेके मतका

---

*धातुरूप अहंकारसे होनेवाली क्रियाओंको गीतामें कई प्रकारसे बताया गया है; जैसे—सम्पूर्ण क्रियाएँ प्रकृतिके द्वारा ही होती हैं (१३।२९); प्रकृतिके गुणोंद्वारा ही सम्पूर्ण क्रियाएँ होती हैं (३।२७); गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं (३।२८; १४।२३); गुणोंके सिवाय अन्य कोई कर्ता नहीं है (१४।१९); इन्द्रियाँ ही अपने-अपने विषयोंमें बरत रही हैं (५।९)।

†यह तादात्म्यरूप अहंकार प्राणिमात्रमें रहता है। अतः पशु-पक्षियोंमें भी अपनी जातिका अहंकार रहता है, इसीलिये वे अपनी जातिवालोंके साथ ही रहते हैं और अपनी जातिमें ही संतान उत्पन्न करते हैं। उनकी एक-एक जातिमें भी परस्पर अलग-अलग अहंकार रहता है। जैसे, एक मोहल्लेका कुत्ता दूसरे मोहल्लेमें जाता है तो दूसरे मोहल्लेका कुत्ता उसको वहाँ आने नहीं देता, उससे लड़ाई करता है—'कुत्ता देख कुत्ता घुर्राया, मैं बैठा फिर तू क्यों आया'? इस तरह प्राणियोंमें अहंताभेद तो है, पर सत्ता-भेद नहीं है।

‡न्याय, वैशेषिक, योग, सांख्य, पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा—ये छः आस्तिक (ईश्वरकी सत्ता माननेवाले) दर्शन हैं। न्यायदर्शन और वैशेषिक दर्शनमें भौतिकताकी प्रधानता है। योगदर्शन और सांख्यदर्शनमें [illegible] स्वर्गादिकी

खण्डन करते हैं। तात्पर्य है कि सूक्ष्म अहम् (आंशिक व्यक्तित्व) रहनेसे ही मतभेद होता है, तत्त्वमें मतभेद नहीं है। अहम्का अत्यन्त अभाव होनेपर भेद नहीं रहता, प्रत्युत तत्त्व रहता है। तत्त्वमें अहम् नहीं है और अहम्में तत्त्व नहीं है। अहम्से पृथक्ता पैदा होती है। जहाँ पृथक्ता है, वहाँ बोध कहाँ और जहाँ बोध है, वहाँ पृथक्ता कहाँ?

'मैं हूँ'—इसमें 'मैं' जड है और 'हूँ' चेतन है। जडकी मुख्यतासे संसारकी इच्छा और चेतनकी मुख्यतासे परमात्माकी इच्छा उत्पन्न होती है। तात्पर्य है कि संसारकी इच्छामें 'मैं' की प्रधानता और परमात्माकी इच्छामें 'हूँ' की प्रधानता रहती है। 'मैं' (जड) की प्रधानता होनेसे जीव संसारी होता है और 'हूँ' (चेतन) की प्रधानता होनेसे जीव साधक होता है। अतः मुख्यरूपसे तादात्म्यरूप अहंकारके दो भेद हैं—१. लौकिक अहंकार, जैसे—'मैं संसारी हूँ' और २. पारमार्थिक अहंकार; जैसे—'मैं साधक हूँ'।

(क्रमशः)

तुलसीदासकी नवधा भक्ति

(डॉ० श्रीजगदीश्वरप्रसादजी एम्० ए०, डी० लिट्०)

सामान्यतः नवधा भक्तिसे तात्पर्य श्रीमद्भागवतमें प्रतिपादित भक्तिके श्रवणादिक नौ भेदोंसे होता है, यथा—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पाद-सेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन। ईश्वरके प्रति अनन्य अनुराग होना भक्ति है। यह अनुराग बिना किसी कारणके, बिना किसी कामनाके निरवच्छिन्न-रूपसे होता है—

'अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे ॥'

(श्रीमद्भा० ३। २९। १२)।

भक्तिके इन नौ रूपोंमें यह परम अनुरक्ति प्रतिफलित होती है। किंतु रामचरितमानसमें श्रीरामने शबरीको नवधा भक्तिका जो उपदेश दिया है, वह श्रीमद्भागवतकी नवधा भक्तिसे भिन्न कोटिकी है। रामचरितमानसकी भक्तिके स्वरूप इस प्रकार हैं—

(१) संतोंका संग, (२) भगवान्के कथा-प्रसंगमें प्रेम, (३) गुरुके चरण-कमलकी सेवा, (४) भगवान्के गुणोंका गान, (५) उनके मन्त्र या नामोंका जप और उनमें दृढ़ विश्वास, (६) शम, दम, उपरति, तितिक्षा एवं यम-नियमोंका पालन तथा संतोंके सदाचारोंका निरन्तर पालन करना, (७) सम्पूर्ण चराचर-विश्वको भगवान्का स्वरूप मानना और संतोंको अधिक आदर देना, (८) यथा-लाभ-संतोष और पराये दोषोंको स्वप्नमें भी नहीं देखना, (९) सरलता, कपटरहित व्यवहार, भगवान्के ऊपर विश्वास और हर्ष-विषादकी भावनासे ऊपर उठना।

प्रथम भगति संतन्ह कर संगा। दूसरि रति मम कथा प्रसंगा ॥
गुर पद पंकज सेवा तीसरि भगति अमान।
चौथि भगति मम गुन गन करइ कपट तजि गान ॥
मंत्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा। पंचम भजन सो बेद प्रकासा ॥
छठ दम सील बिरति बहु करमा। निरत निरंतर सज्जन धरमा ॥
सातवँ सम मोहि मय जग देखा। मोतें संत अधिक करि लेखा ॥
आठवँ जथालाभ संतोषा। सपनेहुँ नहिं देखइ परदोषा ॥
नवम सरल सब सन छलहीना। मम भरोस हियँ हरष न दीना ॥
नव महुँ एकउ जिन्ह कें होई। नारि पुरुष सचराचर कोई ॥
सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरें। सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरें ॥

(३। ३५। ८; ३। ३६। १—७)

गीतामें भगवान्को प्रिय लगनेवाले भक्तके जो लक्षण बतलाये गये हैं, उनमें और गोस्वामीजीद्वारा निरूपित भक्तके लक्षणोंमें अत्यधिक साम्य है। भगवान्का प्रिय भक्त किसीसे द्वेष नहीं करता, उसके हृदयमें सभीके प्रति मित्रता और करुणा होती है। वह ममता और अहंकारसे रहित होता है तथा सुख-दुःखमें समदृष्टि रखता है। जो मिल जाय, उसीमें संतुष्ट हो जाता है और मन तथा बुद्धिको भगवान्में अर्पित कर देता है। संसारके लोग उससे उद्विग्न नहीं होते और वह भी किन्हीं

प्राप्ति और उत्तरमीमांसा (वेदान्तदर्शन)में ब्रह्मकी प्राप्ति मुख्य है। इन दोनों दर्शनोंको 'मीमांसा' कहनेका तात्पर्य है कि इनमें अपने विचार (दर्शन अर्थात् अनुभव) की मुख्यता नहीं है, प्रत्युत वैदिक मन्त्रोंपर विचारकी मुख्यता है। इन दोनोंमें वेदान्त-दर्शनके कई भेद हैं; जैसे—[illegible] आदि।

प्राणियोंसे उद्विग्न नहीं होता। उसका चित्त हर्ष, क्रोध, भय आदि उद्वेगोंसे रहित होता है और वह सभी प्रकारकी आसक्तियोंसे मुक्त रहता है तथा शत्रु और मित्रके प्रति एवं मान एवं अपमानमें भी समान-भाव रखता है।

भक्त भगवान्‌की एकतान-स्मृतिमें निरन्तर निमग्न रहता है। वह समस्त जगत्‌को सच्चिदानन्दमय देखता है तथा उनकी कथासे प्रेम रखता है, उनके गुणोंका गान करता है एवं उनके मन्त्रों और नामोंका जप करता रहता है।

गोस्वामीजीने समस्त शबरी-प्रसंगका वर्णन अध्यात्म-रामायणके आधारपर किया है। उनके नवधा भक्ति-निरूपणका आधार भी वही है, यहाँतक कि दोनोंकी शब्दावलीमें भी पर्याप्त साम्य है। इसकी साम्यता-सिद्धिके लिये अध्यात्मरामायणमें वर्णित नवधा-भक्तिको उद्धृत किया जाता है—

सतां सङ्गतिरेवात्र साधनं प्रथमं स्मृतम्॥
द्वितीयं मत्कथालापस्तृतीयं मद्गुणेरणम्।
व्याख्यातृत्वं मद्वचसां चतुर्थं साधनं भवेत्॥
आचार्योपासनं भद्रे मद्बुद्ध्यामायया सदा।
पञ्चमं पुण्यशीलत्वं यमादि नियमादि च॥
निष्ठा मत्पूजने नित्यं षष्ठं साधनमीरितम्।
मम मन्त्रोपासकत्वं साङ्गं सप्तममुच्यते॥
मद्भक्तेष्वधिका पूजा सर्वभूतेषु मन्मतिः।
बाह्यार्थेषु विरागित्वं शमादिसहितं तथा॥
अष्टमं नवमं तत्त्वविचारो मम भामिनि।
एवं नवविधा भक्तिः साधनं यस्य कस्य वा॥

(अ० रा० अर० १०। २२—२७)

भगवान् श्रीराम शबरीसे कहते हैं—मैं संक्षेपसे अपनी भक्तिके साधनोंका वर्णन करता हूँ। उनमें पहला साधन तो सत्संग ही है। मेरे जन्म-कर्मोंकी कथाका कीर्तन करना दूसरा साधन है, मेरे गुणोंकी चर्चा करना तीसरा उपाय है और (गीता-उपनिषदादि) मेरे वाक्योंकी व्याख्या करना उसका चौथा साधन है। हे भद्रे! अपने गुरुदेवकी निष्कपट होकर भगवद्बुद्धिसे सेवा करना पाँचवाँ, पवित्र स्वभाव, यम-नियमादिका पालन और मेरी पूजामें सदा प्रेम होना छठा तथा मेरे मन्त्रकी साङ्गोपाङ्ग उपासना करना सातवाँ साधन कहा जाता है। मेरे भक्तोंकी मुझसे भी अधिक पूजा करना, समस्त प्राणियोंमें मेरी भावना करना, बाह्य पदार्थोंमें वैराग्य करना और शम-दमादिसम्पन्न होना—यह मेरी भक्तिका आठवाँ साधन है तथा तत्त्व-विचार करना नवाँ है। हे भामिनि! इस प्रकार यह नौ प्रकारकी भक्ति है।

वास्तवमें भक्त और संत अलग-अलग नहीं हैं। आध्यात्मिक दृष्टिसे योगी, ज्ञानी, संत, भक्त और सद्गुरु या महात्मागण—ये सब एक ही ढंगके श्रेष्ठ धर्मात्मा व्यक्तियोंके विशेषण हैं। ये सब लक्षण भगवत्कृपासे दैवी-सम्पदा-प्राप्त लोगोंमें मिलते हैं। पर सभी लक्षणोंको एकमें प्राप्त होनेपर ही कृतकृत्यता या सम्यक्-संतत्व और भक्तत्व आदि समझना चाहिये, जो बड़ा दुःसाध्य है। उसके लिये परिपूर्ण भगवत्कृपा अपेक्षित है। इसकी आलोचनाके लिये गोपालभट्टरचित हरिभक्तिविलास, मधुसूदनसरस्वतीकृत भगवद्भक्तिरसायन, रूपगोस्वामिकृत हरिभक्तिरसामृतसिन्धु, सम्पूर्ण तुलसीसाहित्य, सूरसाहित्य आदिके साथ गीता, भागवत तथा विष्णुपुराण आदि सद्ग्रन्थोंका श्रद्धापूर्वक बार-बार आलोडन परम आवश्यक है। तदनुसार उन गुणोंका अपने अन्तरात्मामें आधान करनेका दृढ़ प्रयत्न करना चाहिये। यदि ये गुण किन्हींमें समाविष्ट होने लगें तो भक्ति आदिका अभिमान न कर एकमात्र केवल भगवत्कृपाका ही परिणाम मानना चाहिये। भक्तोंके विनय, निरभिमानता और भगवान्‌के प्रति सरस भावनाकी सामान्य व्यक्ति कल्पना भी नहीं कर सकता—*'ता कर सुख सोइ जानइ परानंद संदोह।'*

गोस्वामीजीके भावोंका परिचय उनके मानसके अन्तिम दोहे—

मो सम दीन न दीन हित तुम्ह समान रघुबीर।
अस बिचारि रघुबंस मनि हरहु बिषम भव भीर॥
कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम॥

—आदिसे यत्किंचित् अभिव्यञ्जित होता है।

दुःखका मूल कारण—मेरी भूल

(एक साधक)

दुःख मानवमात्रकी मौलिक समस्या है। चिन्ता, भय, अभाव, मानसिक तनाव, निराशा, क्रोध, द्वेष आदि दुःखके ही विभिन्न रूप हैं। यदि हम अपने जीवनमें किसी भी समय, किसी भी कारणसे, किंचिन्मात्र भी चिन्ता, भय, परेशानी आदिकी अनुभूति करते हैं तो यह इस बातका पक्का प्रमाण है कि अभी हमारे जीवनमें दुःख है।

दो अलग-अलग बातें हैं—एक तो दुःखका दब जाना और दूसरा दुःखका मिट जाना। वस्तु, व्यक्ति एवं परिस्थितिके संयोगसे प्राप्त सुखसे दुःख कुछ समयके लिये दब जाता है, लेकिन मिटता नहीं है। संयोगका वियोग होते ही मानव भयंकर दुःखमें आबद्ध हो जाता है। दुःखका दब जाना, दुःखका मिटना नहीं है। हमारा दुःख सदैवके लिये सर्वांशमें मिट गया, ऐसा तब माना जा सकता है जबकि प्रतिकूल-से-प्रतिकूल परिस्थितिमें हमें तनिक भी चिन्ता एवं परेशानी महसूस न हो, बल्कि हम प्रभुकी अखण्ड स्मृति, अगाध प्रियता और उसके अलौकिक आनन्दमें लीन रहें।

सामान्य मनुष्य यही सोचता है कि मेरे पास धन, सम्पत्ति, सुख, सुविधा, सम्मानका अभाव है, मेरा शरीर रोगी है, मेरे प्रिय जन मुझे छोड़कर चले गये, मेरे जीवनमें प्रतिकूलता-ही-प्रतिकूलता है, इसलिये मेरे जीवनमें दुःख, चिन्ता आदि हैं। ऐसा सोचना ठीक नहीं है। वास्तविकता यह है कि मेरे दुःखका कारण केवल मेरी अपनी ही भूल है, अन्य कोई नहीं। यदि मैं भूल नहीं करता तो इस जगत्में यह सामर्थ्य नहीं कि वह मुझे दुःखी कर सके। भला, पर-प्रकाश्य, प्रतिक्षण परिवर्तनशील, क्षणभङ्गुर जगत्, स्वयं-प्रकाश्य, सदैव एकरस, अविनाशी, चेतन, अमल, सहज सुख-राशि, मुझ आनन्द-स्वरूप प्रभुके अंशको दुःख दे सकता है? कदापि नहीं। जगत् दुःख दे नहीं सकता और जगत्पति प्रभुमें दुःख है नहीं तो फिर यह दुःख कहाँसे आ गया? तब अपनेसे ही उत्तर मिलता है कि दुःखका मूल कारण तो मेरी अपनी ही भूल है। वह भूल है—विवेकका अनादर और विश्वासमें विकल्प।

१-विवेकका अनादर

प्रभुकी अहैतुकी कृपासे मानवमात्रको विवेकशक्ति मिली है। विवेकके कारण ही मानव-जीवनका विशेष महत्त्व है और इसे अनमोल तथा देवदुर्लभ बताया गया है—

बड़े भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा॥

(मानस ७।४३।७)

विवेकके प्रकाशमें प्रत्येक मानवको यह पता चल जाता है कि क्या ठीक है, क्या ठीक नहीं है; क्या करणीय है, क्या करणीय नहीं है। जो ठीक नहीं है, करणीय नहीं है—उसे करना ही विवेकका अनादर करना है। विवेकका आदर अथवा अनादर करनेमें मानवमात्र सर्वथा स्वाधीन है।

मानव विवेकका अनादर अपनी ही भूलसे निम्न प्रकारसे कर बैठता है—

(क) 'शरीर'को 'मैं' मान लेना—विवेकके प्रकाशमें प्रत्येक मानवको यह साफ-साफ अनुभव है कि 'मैं शरीर नहीं हूँ, शरीर तो मुझे मिला है।' जिस वस्तुको 'यह' अथवा 'मेरा' कहकर सम्बोधित करते हैं, वह 'मैं' नहीं हो सकता। 'शरीर'के लिये सदैव यही कहा जाता है—'मेरा हाथ, मेरा सिर, मेरे कान, मेरा पेट, मेरा शरीर आदि।' कोई यह नहीं कहता—'मैं हाथ, मैं सिर आदि हूँ।' मानव शरीरको ही जब 'मैं' मान लेता है, तब शरीरके अपमानमें उसे अपना अपमान महसूस होता है—शरीरके रोगी हो जानेपर वह अपनेको रोगी मानता है और शरीरकी मृत्युमें ऐसा समझकर भयभीत हो जाता है कि मैं मर रहा हूँ। शरीरका तो नियम ही है—जन्मना, बढ़ना, बदलना, बिगड़ना और मरना।

(ख) ममता—विवेकके प्रकाशमें मानवमात्रको यह जानकारी है कि शरीर, योग्यता, सामर्थ्य, सम्पत्ति, परिवारके सदस्य मेरे नहीं हैं और मेरे लिये नहीं हैं। यदि ये मेरे होते तो मेरा इनपर अधिकार चलता, मेरे लिये होते तो इनकी सहायतासे 'मेरी माँग' (परम शान्ति, परम स्वाधीनता, परम प्रेम) पूरी हो जाती। क्या हम अपने शरीरको चाहे जबतक रख सकते हैं, चाहे जैसा रख सकते हैं? यदि नहीं तो फिर

शरीर हमारा कैसे हुआ। जब शरीरपर ही हमारा वश नहीं चलता तो परिवार, सम्पत्ति आदि तो हमसे अधिक दूर हैं, उनपर वश कैसे चलेगा। इस बातको जानते हुए भी हमने शरीर आदिको 'मेरा' मान लिया। इसी करण हम दुःखी हो गये। शरीर, परिवार तथा सम्पत्ति आदिको मेरा मान लेना और इनसे सुखकी आशा करना ही ममता है। ममता ही दुःखकी जड़ है, इसीसे सम्पूर्ण दुःख पैदा होते हैं। मानसमें श्रीगोस्वामीजी बताते हैं—

मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला। तिन्ह ते पुनि उपजहिं बहु सूला॥

(मानस ७। १२१। २९)

जिसमें हमारी ममता होगी, उसके दुःख एवं वियोगसे हम दुःखी होंगे। शरीरादिका वियोग अवश्यम्भावी है।

(ग) कामना—सुखकी इच्छा या आशाको कामना कहते हैं। शरीर, परिवार तथा वस्तुओंसे मुझे सुख मिलेगा—ऐसी भावनाका नाम है कामना। सभी भाई-बहन यह भलीभाँति जानते हैं कि—

(१) कामना करना मेरे वशकी बात है, लेकिन उस कामनाको पूर्ण करना मेरे वशकी बात नहीं है, अर्थात् कामना-पूर्तिमें मैं पूर्णतया पराधीन हूँ।

(२) कामना करनेमात्रसे कामना पूरी नहीं होती, वह पूरी होती है मङ्गलमय-विधानसे। कामनाकी पूर्ति कामना-निवृत्तिकी शिक्षा देती है।

(३) करोड़ों कामनाओंकी पूर्ति भी मुझे चिरशान्ति—जीवन्मुक्ति एवं भगवद्भक्तिसे अभिन्न नहीं कर सकती, जो मेरी मूल माँग है।

(४) कामनाकी पूर्तिसे मैं सुख एवं रागमें तथा कामनाकी अपूर्तिसे मैं दुःख एवं द्वेषमें आबद्ध हो जाता हूँ। सुख-दुःख, राग-द्वेष ही मूल बन्धन हैं।

(५) मानव-जीवन सुख-दुःख भोगनेके लिये नहीं मिला है, बल्कि सुख-दुःखसे अतीत अलौकिक आनन्दकी अनुभूतिके लिये मिला है।

विवेकके प्रकाशमें इन बातोंका ज्ञान होते हुए भी ऐसा सोचना कि अमुक कार्य तो होना ही चाहिये अथवा अमुक कार्य किसी भी कीमतपर नहीं होना चाहिये—विवेकका अनादर है।

(घ) बुराई करना—बुराईको बुराईके रूपमें जानते हुए भी भय अथवा प्रलोभनसे बुराई करना, भलाईको भलाईके रूपमें जानते हुए भी ज्ञान एवं सामर्थ्यके अनुरूप भलाई न करना प्रभुप्रदत्त विवेकका अनादर है। यह प्राकृतिक विधान है कि जो हम दूसरोंके साथ करते हैं, वही कई गुना होकर कालान्तरमें हमारे साथ हो जाता है। सर्वांशमें बुराईसे रहित हो जानेपर व्यक्ति भला हो जाता है। भला होनेके बाद स्वतः भलाई होती है। स्मरण रहे, भलाई करके कोई भला नहीं बनता, बल्कि भला बननेसे भलाई होती है।

२-विश्वासमें विकल्प

प्रभुने अपनी अहैतुकी कृपासे मानवमात्रको विश्वासका तत्त्व भी दिया है। संतवाणी, ग्रन्थवाणी और गुरुवाणीके आधारपर सभी भाई-बहनोंको निम्न बातोंमें दृढ़ विश्वास करना चाहिये—

(क) प्रभुका विधान सदैव मङ्गलमय ही होता है—हमें इस सत्यमें अविचल आस्था एवं विकल्परहित विश्वास करना चाहिये कि 'प्रभु हैं।' भले ही हम यह न जानें कि 'वे कहाँ हैं, कैसे हैं, हमारे साथ क्या करते हैं, कब करते हैं, कैसे करते हैं, किसके माध्यमसे करते हैं, पर वे हैं अवश्य। और वे जो कुछ हमारे साथ करते हैं, चाहे उसका बाह्य स्वरूप कितना ही प्रतिकूल, दुःखदायी अमङ्गलकारी, अपमानजनक, अत्यन्त खतरनाक और हानिकारक क्यों न दिखायी दे, उसीमें हमारा मङ्गल है, कल्याण है—परम हित है, ऐसा दृढ़ विश्वास करके प्रभुके प्रतिकूलतम विधानमें भी उनकी मङ्गलकारिता एवं अहैतुकी कृपाका दर्शन करके हम परम प्रसन्न रहें, परम आनन्दित रहें, निजानन्दमें मस्त रहें, परमानन्दमें परिपूर्ण रहें, उनकी स्मृति एवं प्रियतासे छके रहें। यही है सच्चा प्रभु-विश्वास।

प्रभु हमारे सामने दो प्रकारसे प्रतिकूलता एवं अनुकूलता भेजते हैं। एकमें सुख-दुःख देनेवाला साफ-साफ दिखायी देता है और दूसरेमें कोई भी दिखायी नहीं देता। अनायास शरीरमें भीषण रोग पैदा हो जाना, मृत्यु हो जाना, बिजली गिर जाना, धन मिल जाना, जहरीले जानवरका ग्रास बन जाना आदि घटनाओंमें कोई दिखायी नहीं देता। अतः इनमें हम यह

स्वीकार कर लेते हैं कि प्रभुका विधान ही ऐसा है। लेकिन जहाँ सुख-दुःख देनेवाला नजर आता है, वहाँ विधानको भूलकर हम राग-द्वेषमें आबद्ध हो जाते हैं। यही हमारी भूल है।

हम अपनी तरफसे एकदम ठीक रास्तेपर हैं, फिर भी यदि हमारा कोई प्रिय जन हमारी निन्दा, आलोचना, तिरस्कार, अपमान आदि करता है तो हमें उसे लेशमात्र भी दोषी नहीं मानना चाहिये और इस सत्यमें अविचल विश्वास करना चाहिये कि प्रिय जनको प्रतिकूल व्यवहारकी प्रेरणा देकर मेरे प्यारे प्रभु मुझे साधन-मार्गमें आगे बढ़ाना चाहते हैं, मुझे अपनेसे अभिन्न करना चाहते हैं, मुझे कुछ सिखाना चाहते हैं, मेरी भूल मिटाना चाहते हैं। ऐसा अखण्ड विश्वास करके प्रिय जनके प्रतिकूल व्यवहारके पीछे प्यारे प्रभुकी मङ्गलमूर्तिका दर्शन करे, इसे उन्हींका संकेत समझे। न सुख देनेवाले प्रिय जनके रागमें फँसे और न दुःख देनेवाले प्रिय जनके द्वेषमें आबद्ध हो। सत्य भी यही है। शारीरिक अस्वस्थता शरीरके राग-निवृत्तिका संदेश है, पारिवारिक प्रतिकूलता परिवारकी सेवा एवं विशुद्ध कर्तव्यपालनका उपदेश है, वस्तुकी हानि, निर्लोभ और व्यक्तिका वियोग निर्मोह बनानेका पाठ है।

(ख) प्रभुकी प्रसन्नता ही हमारा जीवन है—विश्वास कीजिये कि प्रभुने मानवकी रचना इसलिये की है कि हम प्रभुकी आवश्यकताको पूरी करके उन्हें रस प्रदान करें। मानव-हृदयका प्रेम ही प्रभुकी आवश्यकता है। संसारको प्रभुका ही प्रकट रूप समझकर सबके प्रति सद्भाव रखना और ज्ञानके प्रकाशमें शरीर, परिवार एवं निकटवर्ती जनसमाजको यथाशक्ति सहयोग देना, प्रेमका ही क्रियात्मक रूप है।

प्रभुके चरणारविन्दोंमें अपने सहित अपना सब कुछ न्योछावर कर देना, अपने पास अपना करके कुछ न रखना, सर्वथा अकिंचन, अचाह और अप्रयत्न हो जाना प्रेमका ही भावात्मक रूप है। प्रेमी सदैव अपने प्रभुके विधानमें यह विश्वास करके परम प्रसन्न रहता है कि प्रभुने अपने मन (मेरे मनकी नहीं) की बात पूरी की है। किसीके मनकी बात पूरी करना ही तो उसे रस देना है। प्रभु-विश्वासी प्रभुकी इच्छा ही पूरी करनेका भाव रखता है। श्रीभाईजी हनुमानप्रसादजी पोद्दार प्रभुको उद्देश्यकर कहा करते थे—

मेरी चाही करन की जो है तुम्हरी चाह।
तो अपनी चाही करो यह है मेरी चाह॥

यदि हम अपनी इस भूल (विवेकका अनादर और विश्वासमें विकल्प) को इसी क्षण मिटा लें तो अभी-अभी हम परम शान्ति, जीवन्मुक्ति एवं भगवद्भक्तिसे अभिन्न हो जायँ और हमारा मानव-जीवन सफल हो जाय।

प्रभु मानवमात्रको भूल मिटानेकी सामर्थ्य एवं प्रेरणा प्रदान करें, इसी भावनाके साथ 'उनकी वस्तु' उन्हें ही अर्पित।

मङ्गल-झाँकी

लालके नैन बने अरसाने।
बिथुरे बार बदन-बारिज पै लोचन-कोर ललाने।
जननी निरखि लाइ उर चूमति धोवति मन हरषाने॥
उबटति चुपरि नहावति रचि रचि पोंछि बदन सुख माने।
अंग-अंग अँगराग लगावति चन्दन-मृगमद साने॥
घुँघरारे कच मोर-मुकुट सिर केसर तिलक सोहाने।
लोल कपोलन पै द्युति कुण्डल दामिनि-सी दमकाने॥
दुइ-दुइ दसन अरुन अधरन बिच किलकन यों छबि साने।
अरुन कमलपर मानहु जलकन पवन परस थिरकाने॥

—परमेश्वरीलाल सन्थालिया

पञ्चगव्य तथा पञ्चामृतका विलक्षण प्रभाव

(कविराज पं० श्रीव्रजमोहनजी दीक्षित)

जगद्धात्री गौ सम्पूर्ण विश्वकी माता है। इसके रोम-रोममें देवताओंका वास है। इसके दानसे जीव सहजमें वैतरणी पार कर जाता है और नरकोंसे छुटकारा पा जाता है। यह आध्यात्मिक तथ्य भले ही सबके गलेके नीचे न उतरे, किंतु चिकित्सा-विज्ञानके अनुसार गायकी उपयोगिता सबको माननी पड़ेगी।

भारतमें दो शब्द बहुत प्रचलित हैं—पञ्चगव्य और पञ्चामृत। हर प्रकारके प्रायश्चित्तमें शुद्धिके लिये पञ्चगव्य एवं धार्मिक कृत्योंमें पञ्चामृतका प्रयोग होता है। ये दोनों गौ मातासे ही प्राप्त होते हैं।

पञ्चगव्य बनाने तथा प्राशनकी विधि

प्रायः सभी प्रकारके प्रायश्चित्तोंमें पञ्चगव्य-प्राशन परमावश्यक बताया गया है। जब मनुष्यको अपने किये गये दुराचार या अनैतिक कृत्योंसे अपने-आपसे ही घृणा हो जाती है तो वह किसी चान्द्रायण, कृच्छ्र, अतिकृच्छ्र आदि व्रत या भागवत-सप्ताह, गङ्गादि तीर्थोंकी यात्रा या स्नानके द्वारा आत्मशुद्धि चाहता है। इसके लिये शास्त्रोंने प्रायश्चित्त-काण्डका निर्माण किया है, जो प्रायः हेमाद्रिकृत चतुर्वर्गचिन्तामणि आदि सभी निबन्ध-ग्रन्थों तथा याज्ञवल्क्य आदि स्मृतियोंके प्रायश्चित्ताध्यायोंमें विस्तारसे निर्दिष्ट है। पर उन सभी प्रायश्चित्त-विधानोंमें पञ्चगव्य-प्राशन प्रारम्भमें ही आवश्यक होता है। इसके साथ ही अश्वमेध, वाजपेय, राजसूय आदि यज्ञोंके प्रारम्भमें पञ्चगव्य-प्राशनका विधान है, तभी वह निष्पाप होकर यज्ञ-दीक्षाका पात्र बनता है। इसी प्रकार अन्य शुद्धियोंके लिये भी पञ्चगव्यका प्राशन किया जाता है। मन्दिर आदिके निर्माण तथा प्रतिष्ठा आदिमें भी इसका ग्रहण आवश्यक है। पञ्चगव्य-निर्माणकी विधिका वेद, पुराण एवं धर्मशास्त्रोंमें बड़ी पवित्रतापूर्वक और ध्यान देकर विचार किया गया है। इसलिये इसकी विधि थोड़ी बड़ी हो गयी है, किंतु उसके सम्यक् पालनके बिना न आत्मशुद्धि होती है और न आत्मसंतोष ही होता है। यहाँ संक्षेपमें ग्रन्थोंका सारस्वरूप प्रस्तुत किया जा रहा है—

पञ्चगव्यमें मुख्यरूपसे गोमय, गोमूत्र, दधि, दुग्ध, सर्पि (घी) और कुशमिश्रित गङ्गोदकका सम्मिश्रण आवश्यक होता है। गव्य शब्दका अर्थ ही है गायसे प्राप्त पदार्थ। पञ्चगव्यके लिये नीले (कृष्णवर्णा) रंगकी गायका गोमूत्र, पूरी काली गायका गोमय (गोबर), लाल रंगकी गायका दूध, उजली गायका दधि तथा कपिल वर्णकी गायका घृत ग्रहण करना चाहिये। यदि सब प्रकारकी गायोंका मिलना अत्यन्त कठिन हो तो कपिला गाय ही प्रशस्त मानी गयी है, उसीका दूध, दही आदि ग्रहण करना चाहिये।

सामान्यतः पञ्चगव्यके अनुपातका क्रम इस प्रकार निर्दिष्ट किया गया है—

गोमूत्र एक पल (पाँच तोला या लगभग ६२ ग्राम या एक छटाँक), उसका आधा अर्थात् लगभग ३१ ग्राम गोमय, दूध सात पल या ४३४ ग्राम, दही तीन पल अर्थात् १८६ ग्राम और एक पल घी तथा एक पल कुशोदक ग्रहण करना चाहिये। आवश्यकता पड़नेपर इसी अनुपातमें सामूहिक प्रायश्चित्तादिके लिये इससे अधिक भी पञ्चगव्य बनाया जा सकता है। आपत्तिकालमें ये सब सुलभ न हों तो घी, कुशोदक तथा दूधसे भी पञ्चगव्यका विधान बताया गया है।

दूध आदिके ग्रहण करने, संचालन तथा आलोडन करने एवं पञ्चगव्यके पान करने तथा आहुति आदिके अलग-अलग मन्त्र शास्त्रोंमें बताये गये हैं। दूध, दही आदिके अलग-अलग अधिष्ठातृ-देवता भी कहे गये हैं। गोमूत्रके अधिष्ठातृ-देवता वरुण, गोमयके अग्नि, दूधके सोम, दहीके वायु, घृतके सूर्य तथा कुशोदकके देवता विष्णु बताये गये हैं। गायत्रीमन्त्रसे गोमूत्र ग्रहण करना चाहिये। **'गन्धद्वारां दुराधर्षां०'** इस श्रीसूक्तके मन्त्रसे गोमय लेना चाहिये। **'आ प्यायस्व०'** (यजु० १२।११२) इस मन्त्रसे दूध, **'दधिक्राव्णो०'** (यजु० २३।३२)से दही, **'तेजोऽसि शुक्र०'** (यजु० २२।१) मन्त्रसे घी तथा **'देवस्य त्वा०'** (यजु० १।१०) मन्त्रसे कुशोदक ग्रहण करना चाहिये।

चाँदी तथा सोनेके पात्रमें अथवा पलाश-पत्रके दोनेमें पञ्चगव्य बनाकर तीन बार ग्रहण करना चाहिये। प्रणव-उच्चारणसे आलोडनकर सबको एकमें मिश्रित कर लेना

चाहिये। पञ्चगव्यके प्राशनका मन्त्र इस प्रकार है—

यत्त्वगस्थिगतं पापं देहे तिष्ठति मामके।
प्राशनात् पञ्चगव्यस्य दहत्वग्निरिवेन्धनम्॥

अर्थात् 'त्वचा, मज्जा, मेदा, रक्त एवं हड्डियोंतक जो पाप मुझमें प्रविष्ट हो गये हैं, वे सब मेरे इस पञ्चगव्यके प्राशन करनेसे वैसे ही नष्ट हो जायँ जैसे प्रज्वलित अग्निमें सूखी लकड़ी डाले जानेपर भस्म हो जाती है।'

इस प्रकार सर्वदेवमयी गौके पञ्चगव्यका मन्त्रोंकी शक्तिसे विलक्षण प्रभाव हो जाता है। इसके नियमित सेवनसे शरीरमें व्याप्त मन्द विषका प्रभाव, अन्तर्विष-संचार (जिसमें घुल-घुलकर मनुष्यका जीवन नष्ट होता है), विषैली ओषधियोंके सेवनसे गिरता हुआ स्वास्थ्य तथा लंबी बीमारीसे शरीरमें संचित विषोंका प्रभाव निश्चित-रूपसे नष्ट होता है एवं मनुष्यका स्वास्थ्य पूर्णरूपसे ठीक हो जाता है। साधारण प्रयास एवं थोड़े खर्चमें मानव-जीवनको सुरक्षित करनेवाला यह अद्भुत रसायन गोमाताद्वारा ही प्रदत्त है।

पञ्चामृत

पञ्चामृतका पञ्चगव्यके समान अत्यन्त महत्त्व है। इससे प्रायः भगवान् शिवका अभिषेक होता है तथा भगवान् शालग्राम आदिको विशेष अवसरोंपर तथा कथा-पूजन आदिमें भी पञ्चामृत-स्नान कराया जाता है। पञ्चामृतमें पाँच पदार्थ सम्मिलित रहते हैं—गायका दूध, दही, घृत, मधु तथा शर्करा। भगवान्‌को स्नान करानेका सामान्य मन्त्र इस प्रकार है—

पयो दधि घृतं चैव मधु शर्करयान्वितम्।
पञ्चामृतं मयानीतं स्नानार्थं प्रतिगृह्यताम्॥

'पयः पृथिव्यां०' (यजु०१८।३६) इत्यादि अलग-अलग तथा **'पञ्चनद्यः०'** (यजु० ३४।११) आदि वैदिक मन्त्र भी हैं। पञ्चामृत-स्नानके बाद शुद्ध जलसे स्नान कराया जाता है। ये पाँचों पदार्थ अलग-अलग भी अमृतके समान स्वादिष्ट एवं गुणशाली हैं तथा आयु-वर्धक और पुष्टिकारक हैं। फिर पाँचोंके सम्मिलित हो जानेपर और भगवद्भावसे सम्पन्न होनेके कारण तथा वैदिक ऋचाओंकी ध्वनि एवं घण्टानाद आदिके विशिष्ट योगसे साक्षात् अमृतके समान ही हो जाते हैं। यह अपमृत्यु, अकाल मृत्यु तथा समस्त व्याधियोंको भी उन्मूलन कर देता है।

पञ्चामृतका नियमपूर्वक सेवन करनेसे 'लो' या 'हाई ब्लड-प्रेशर' नहीं होता, न हृदयके रोग ही होते हैं। पाचन-शक्ति ठीक रहती है। स्नायुदौर्बल्य तथा स्नायु-सम्बन्धी रोग नहीं होते। संक्रामक रोगोंसे रक्षा करनेकी भी इसमें असाधारण क्षमता है। शरीरकी रोग-क्षमता एवं रोग-प्रतिरोधक शक्तिको बढ़ाकर यह मनुष्यको स्वस्थ रखनेमें पूर्ण सक्षम है।

आयुर्वेदानुसार इसके संक्षिप्त अलग-अलग गुण इस प्रकार हैं—

गायका दूध

स्वादु शीतं मृदु स्निग्धं वहलं श्लक्ष्णपिच्छिलम्।
गुरु मन्दं प्रसन्नं च गव्यं दशगुणं पयः॥

(चरकसं० अ० २७)

गायका दूध स्वादु, शीतल, मृदु, स्निग्ध, घनीभूत और श्लक्ष्ण अर्थात् शरीरमें शीघ्र घुल-मिल जानेवाला, लसदार, गुरु, मन्द अर्थात् तन्तुओंको पुष्ट करनेवाला तथा प्रसन्न एवं सरलतासे पचनेवाला—इन दस गुणोंसे युक्त है।

शरीरमें स्फूर्ति, शक्ति, कान्ति देनेवाले तत्त्वका नाम आयुर्वेदमें ओज है। उसके भी यही दस गुण हैं, उसके समान होनेके कारण यह ओजको बढ़ाता है। इसी गुणके कारण मनुष्य ओजस्वी कहलाता है। **'प्रवरं जीवनीयानां क्षीरमुक्तं रसायनम्।'** (चरक-संहिता, सूत्रस्थान, दुग्ध-प्रकरण)। जीवनीशक्तिको बढ़ानेवाला यह सर्वश्रेष्ठ रसायन है। **'गोक्षीरं क्षीराणां पथ्यतमत्वे श्रेष्ठतमम्।'** नियमित गोदुग्ध सेवन करनेवालोंको वृद्धावस्थाके कष्ट नहीं होते—**'जरासमस्तरोगाणां शान्तिकृत्सेविनां सदा'** (भावप्रकाश, पूर्वखण्ड १४।८)।

विभिन्न रंगवाली गायोंके दूधके गुणोंका वर्णन आयुर्वेदमें अलग-अलग किया गया है—

कृष्णाया गोर्भवेद् दुग्धं वातहारि गुणाधिकम्॥
पीताया हरते पित्तं तथा वातहरं भवेत्।

(भावप्रकाश, पूर्वखण्ड १४।९-१०)

'कृष्णा गायका दूध वातनाशक और अधिक गुणकारी है तथा पीली गायका वात-पित्त-नाशक होता है।'

दहीके गुण

गव्यं दधि विशेषेण स्वाद्वम्लं च रुचिप्रदम्।

पवित्रं दीपनं हृद्यं पुष्टिकृत् पवनापहम्।
उक्त दध्नामशेषाणां मध्ये गव्यं गुणाधिकम्॥

(भावप्रकाश, पूर्वखण्ड,मिश्रप्रकरण १५।१०)

'गायका दही सबसे श्रेष्ठ, अधिक गुणोंवाला, रुचि तथा भूख बढ़ानेवाला, हृदयको बल देनेवाला, पुष्टिकारक तथा वायुनाशक है।'

गायका घी

गव्यं घृतं विशेषेण चक्षुष्यं वृष्यमग्निकृत्।
स्वादुपाककरं शीतं वातपित्तकफापहम्॥
मेधालावण्यकान्त्योजस्तेजोवृद्धिकरं परम्।
अलक्ष्मीपापरक्षोघ्नं वयसः स्थापकं गुरु॥
वल्यं पवित्रमायुष्यं सुमङ्गल्यं रसायनम्।
सुगन्धं रोचनं चारु सर्वाज्येषु गुणाधिकम्॥

(भावप्रकाश, पूर्वखण्ड, मिश्रप्रकरण १८।४—६)

गायका घृत आँखोंके लिये विशेष लाभकारी, अग्नि तथा बलवर्धक, विपाकमें मधुर रसयुक्त, शीतल, वात-पित्त-कफनाशक, बुद्धि-वर्धक, लावण्य, कान्ति, ओज तथा तेजकी अत्यन्त वृद्धि करनेवाला, अलक्ष्मी, पाप तथा रक्षोग्रहको दूर करनेवाला, मङ्गलदायक, सुगन्धयुक्त, रोचक, दीर्घजीवन प्रदान करनेवाला एवं अन्य समस्त घृतोंसे श्रेष्ठ रसायन है।

गोमूत्र

गोमूत्रं कटु तीक्ष्णोष्णं क्षारं तिक्तकषायकम्।
लघ्वग्निदीपनं मेध्यं पित्तकृत् कफवातहृत्॥
शूलगुल्मोदरानाहकण्डवक्षिमुखरोगजित्।
किलासगदवातामवस्तिरुक् कुष्ठनाशनम्।
कासश्वासापहं शोथकामलापाण्डुरोगहत्॥

(भावप्रकाश, पूर्वखण्ड, मिश्रप्रकरण १९।१-२)

गोमूत्र कटु, तिक्त, कषाय-रसयुक्त तीक्ष्ण, उष्ण, क्षार (खारा), लघु, अग्निदीपक, मेधाके लिये हितकर, पित्तकारक, कफ तथा वातनाशक है। शूल, गुल्म, उदर-रोग, आनाह (अफरा), खुजली, नेत्र तथा मुख-सम्बन्धी रोग, किलास-रोग (कुष्ठ-भेद), वात, आम, वस्ति-सम्बन्धी रोग, कुष्ठ, कास, श्वास, शोथ, कामला तथा पाण्डु-रोगका नाश करनेवाला होता है।

गोमूत्र गरम कर कानमें डालनेसे कानकी पीड़ा शान्त होती है तथा इसी प्रकार सुबह-शाम—दोनों समय कानमें डालनेसे कानका बहना बंद हो जाता है। अतएव गोमूत्र एक उत्कृष्ट ओषधि है। यकृत्, प्लीहा, गुल्म, दाद, खाज, उकवत आदि तथा चर्मरोग और कुष्ठ, अजीर्ण, अफरा आदि अनेक रोगोंमें ३० ग्राम गोमूत्र सुबह-शाम पीनेसे निश्चित लाभ होता है। सर्वसुलभ, बिना मूल्य गोमाताका यह वरदान सर्वसाधारणको आरोग्य प्रदान करता है।

आजकल रोगमें घी विषके समान माना जाता है। जहाँ रक्तमें कोलस्टेरालकी मात्रा बढ़ी कि पाश्चात्त्य चिकित्सक घी वर्जित कर देते हैं, किंतु गोघृत खानेसे कोलस्टेराल नहीं बढ़ता, इसके सेवनसे हृदयपर कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ता। सभी जल कुछ दिन रखनेसे विकृत हो जाते हैं, काई पैदा हो जाती है, बदबू करते हैं और उसमें कीड़े पैदा हो जाते हैं, किंतु गङ्गाजल वर्षों रखनेपर भी विकृत नहीं होता। उसमें कोई अलौकिक शक्ति है, जो प्रयोगशालाकी जाँचकी परिधिके बाहर है। उसमें एक शक्ति है—ऐसा स्वीकार करते हुए भी वैज्ञानिक उसे अभीतक जान नहीं सके।

इसी प्रकार गोघृतमें भी एक अलौकिक शक्ति है, जो हृदयको हानि न पहुँचाकर विशेष शक्ति प्रदान करती है। यही कारण है कि शास्त्रोंमें गङ्गा-गाय-गायत्रीकी महिमाका असीम वर्णन है।

गोमयका रस

विषैले पदार्थ—भिलावाँ , केवाँच (शाककी एक फली-विशेष) आदि खानेसे शरीरमें छाले-फफोले, खुजली आदि हो जाते हैं। अन्य अनेक कारणोंसे भी रक्त दूषित होकर नाना प्रकारके फुंसी-फोड़े हो जाते हैं, जो पिण्ड नहीं छोड़ते, वे केवल गायके गोबरका रस २ तोला सुबह, २ तोला शामको पीनेसे नष्ट हो जाते हैं। इसी प्रकार गोरोचन भी हमें गायसे ही मिलता है। यह स्नायुमण्डलको बल देनेवाला, संनिपात आदि भयंकर रोगोंमें रासायनिक ओषधियोंके साथ चमत्कारिक कार्य करता है। तान्त्रिक क्रियाओंमें भी इसका बहुत उपयोग होता है। गायके गोबर तथा मूत्रमें जीवाणु और विषाणुनाशक शक्ति है, यह आजके विज्ञानने भी स्वीकार किया है। यदि गायके गोबर और मूत्रकी खाद खेतोंमें दी जाय तो वहाँके जीवाणु

स्वतः नष्ट हो जायँगे। छिड़कनेवाली भयंकर विषैली जीवाणुनाशक दवाइयोंकी आवश्यकता नहीं पड़ेगी, जिनके प्रभावसे अन्न भी दूषित होकर अस्वास्थ्यकर हो जाता है।

इस प्रकार गाय एक पशु नहीं, अपितु सर्वथा पूज्य एवं रक्षणीय है। यह बिना भेद-भावके हिन्दू, मुसलमान, ईसाई सबका संरक्षण करती है। अतः सबका कर्तव्य है कि इस दिशामें सोचें और यथाशक्ति गोरक्षण तथा गोसंवर्धनमें योगदान दें।

गायके दूध ,घी, मूत्र तथा गोबरके रससे मनुष्यके प्राण बचानेवाली कुछ ओषधियोंका यहाँ किञ्चित् नामोल्लेख किया जा रहा है—

१- अर्जुन घृत—हृदयके रोगोंमें लाभ।
२- चित्राद्य घृत—ग्रहणी, प्लीहा, अफरा, खाँसी, श्वास-क्षय आदिमें लाभदायक।
३- महाकल्याण घृत—जिस स्त्रीको संतान न होती हो, बच्चा मर जाता हो, रोगी संतान होती हो।
४- महाखदिर घृत— खाने और लगानेसे सब प्रकारके कुष्ठ और चर्मरोग ठीक होते हैं।
५- महानील घृत—सफेद दाग ठीक होते हैं।
६- महापञ्चगव्यघृत—मिरगीके लिये अपूर्व है।
७- मातुलुङ्गामूल घृत—वन्ध्याको प्रसव-योग्य बनाता है।
८- मृत्युपाशाच्छेदि घृत—साँप, विषैले कीड़े, चूहा, मकड़ी आदि समस्त विषैले जन्तुओंका विषनाशक।
९- महामरिच्यादि तैल— समस्त चर्मरोग-नाशक। इसमें गोमूत्र और गोबरका रस प्रधान है।
१०- फल-घृत—वन्ध्या-दोषनाशक।
११-मनःशिलादिवर्ति—यह बत्ती गायके गोबरके रसमें घोंटकर बनती है और उसीमें घिसकर लगानेसे बिच्छूका विष तत्काल शान्त होता है।
१२- महागौर्याद्य घृत—यह सब प्रकारका घाव, नासूर आदि ठीक करता है।

भैषज्यरत्नावली, भावप्रकाश, चरक, सुश्रुत आदि आयुर्वेदके ग्रन्थोंके चिकित्सा-प्रकरणोंमें गव्य-पदार्थोंके प्रभूत प्रयोग बताये गये हैं। यहाँ तो दिग्दर्शनमात्र कराया गया है। पञ्चगव्यके हजारों चमत्कारिक प्रयोग हैं, जो कम मूल्यमें भयंकर रोगोंको दूर करनेकी सामर्थ्य रखते हैं, किंतु दुःख है कि अब गायका दूध, दही तो दूर रहा, मूत्र भी नहीं मिलता। गो-पालनकी प्रवृत्ति कम होती जा रही है। कहीं-कहीं तो सत्यनारायणकी कथाके लिये गायका दूध भी बड़ी मुश्किलसे मिलता है। यह है गोभक्त भारतकी दयनीय दशा। इधर ध्यान देनेकी आवश्यकता है। गोशालाओंका पुनः संगठन करना है। जहाँसे लोगोंको घर-घर दूध और घी मिले और वे समझें कि गायकी कितनी आवश्यकता है।

योग-मठ

होवे लघु द्वार एक, छिद्र ना गवाक्ष जामें
जाको अति छोटो नाहिं बड़ो विस्तार हो।
गोमय पवित्रसे लिपा हो, स्वच्छ सुन्दर हो,
प्राणी दूसरा न होवे, शान्ति रस-धार हो॥
बाहरमें वेदी कूप मण्डप सुशोभित हों,
चारों ओर पुष्पलता सीमा निरधार हो।
ताको हठयोगी जन 'योगमठ' मानत हैं,
'पथिक' पवित्र जामें नित्य सदाचार हो॥

—श्रीनरसिंहजी पाण्डेय 'पथिक'

साधन और साध्य

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

[गताङ्क पृ० सं० ६७४ से आगे]

करणसापेक्ष साधन

चित्तवृत्तिकी पाँच अवस्थाएँ हैं—मूढ़, क्षिप्त, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। इनमें मूढ़ और क्षिप्त वृत्तिवाला मनुष्य ध्यानयोगका अधिकारी नहीं होता। जिसका चित्त कभी परमात्मामें लगता है, कभी नहीं लगता—ऐसा विक्षिप्त वृत्तिवाला मनुष्य ही ध्यानयोगका अधिकारी होता है।

विक्षिप्त वृत्तिवाला साधक अपने चित्तको संसारसे हटाकर परमात्मामें लगानेका अभ्यास करता है[१]। जब उसका चित्त परमात्मामें लग जाता है, तब ध्यान-अवस्था होती है। ध्यानावस्थामें ध्याता, ध्यान और ध्येय—यह त्रिपुटी रहती है। ध्यान करते-करते जब ध्याता और ध्यान नहीं रहते, प्रत्युत एक ध्येय रह जाता है, तब चित्तवृत्ति एकाग्र हो जाती है[२]। चित्तवृत्ति एकाग्र होनेपर सम्प्रज्ञात (सविकल्प) समाधि होती है[३]। ध्येयमें तीन बातें रहती हैं—ध्येय, ध्येयका नाम और नाम-नामीका सम्बन्ध। सम्प्रज्ञात समाधिका दीर्घकालतक अभ्यास करनेपर जब नामकी स्मृति न रहकर केवल नामी (ध्येय) रह जाता है, तब चित्तवृत्ति निरुद्ध हो जाती है। चित्तवृत्ति निरुद्ध होनेपर असम्प्रज्ञात (निर्विकल्प) समाधि होती है।

असम्प्रज्ञात समाधि दो तरहकी होती है—सबीज और निर्बीज। जब संसारकी सूक्ष्म वासना रहती है, तब सबीज समाधि होती है। सबीज समाधिमें अहम् (मैं-पन)के साथ सम्बन्ध रहता है। अहम्‌के सम्बन्धसे दो अवस्थाएँ होती हैं—समाधि और व्युत्थान। सूक्ष्म वासनाके कारण इस सबीज समाधिमें अनेक प्रकारकी सिद्धियाँ प्रकट हो जाती हैं। ये सिद्धियाँ सांसारिक दृष्टिसे तो ऐश्वर्य हैं, पर परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिमें विघ्न हैं[४]। जब योगी इन सिद्धियोंमें न फँसकर इनसे उपराम (वासनारहित) हो जाता है, तब निर्बीज समाधि होती है। निर्बीज समाधिमें अहम्‌से, कारणशरीरसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और योगी अपने सहज स्वरूपमें स्थित हो जाता है,[५] जिससे फिर कभी व्युत्थान नहीं होता। इसको सहज समाधि, सहजावस्था अथवा गुणातीत-अवस्था भी कहते हैं।

यद्यपि करणसापेक्ष साधनमें करण (क्रिया)की प्रधानता रहती है, तथापि साधकका लक्ष्य परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति होनेसे परिणाममें उसका करणसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और उसको परमात्मतत्त्वका अनुभव हो जाता है।

करणनिरपेक्ष साधन

करणनिरपेक्ष साधन गीताकी एक विलक्षण देन है, जिसमें मनुष्यमात्रका अधिकार है। इस साधनमें सत्-असत्‌के विवेककी प्रधानता है। विवेक अनादि और स्वतःसिद्ध है[६]। यह बुद्धिमें प्रकाशित होता है, पर बुद्धिका

१- यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्। ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥ (गीता ६। २६)

२- यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता। योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः॥ (गीता ६। १९)

'जैसे स्पन्दनरहित वायुके स्थानमें स्थित दीपककी लौ चेष्टारहित हो जाती है, योगका अभ्यास करते हुए यतचित्तवाले योगीके चित्तकी वैसी ही उपमा कही गयी है।'

३- स्थूलशरीरसे क्रिया, सूक्ष्मशरीरसे चिन्तन और कारणशरीरसे समाधि होती है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनों शरीर 'करण' हैं।

४- ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः। (योगदर्शन ३। ३७)

५- यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया। यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति॥ (गीता ६। २०)

'योगका सेवन करनेसे जिस अवस्थामें निरुद्ध चित्त उपराम हो जाता है तथा जिस अवस्थामें स्वयं अपने-आपमें अपने-आपको देखता हुआ अपने-आपमें संतुष्ट हो जाता है।'

६- गीतामें आया है—'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि' (१३। १९)।'

'प्रकृति और पुरुष—दोनोंको ही तुम अनादि समझो।' अतः जैसे प्रकृति और पुरुष अनादि हैं, ऐसे ही इन दोनोंका भेद (विवेक) भी अनादि है।

गुण नहीं है। यद्यपि सत्-असत्का विवेक सभी साधनोंमें रहता है, तथापि करणनिरपेक्ष साधनमें साधक आरम्भसे ही इस विवेकको महत्त्व देता है, जिससे यह विवेक स्वयं उसका मार्गदर्शक हो जाता है। विवेकको महत्त्व देनेसे उसमें जड़की दासता अर्थात् क्रिया और पदार्थका आश्रय नहीं रहता, प्रत्युत उसकी निरपेक्षता रहती है। जड़के आश्रयसे तत्त्वकी प्राप्ति अथवा बोध नहीं होता, प्रत्युत संसारका कार्य होता है। जड़का आश्रय सर्वथा मिटनेपर जड़की स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती और जड़की स्वतन्त्र सत्ता न रहनेपर विवेक ही तत्त्वबोधमें परिणत हो जाता है। इस प्रकार करणनिरपेक्ष-साधनमें विवेक मुख्य है।

१. सत्-असत्का विवेक

गीताके उपदेशका आरम्भ विवेकसे ही हुआ है; जैसे—

एक शरीर है और एक शरीरी (शरीरवाला) है। शरीर प्रकृतिका अंश और शरीरी परमात्माका अंश है। शरीर और शरीरी दोनों ही अशोच्य हैं। तात्पर्य है कि शरीरीका कभी नाश नहीं होता; अतः उसके लिये शोक करना नहीं बनता और शरीरका नाश निरन्तर होता है; अतः उसके लिये भी शोक करना नहीं बनता। शरीर-शरीरीकी इस भिन्नताको जाननेवाले विवेकी पुरुष किसी भी मृत अथवा जीवित प्राणीके लिये कभी शोक-चिन्ता नहीं करते। उनकी दृष्टि नाशवान् शरीरकी तरफ न रहकर अविनाशी शरीरीकी तरफ ही रहती है। वे देखते हैं कि शरीर पहले भी नहीं थे और बादमें भी नहीं रहेंगे, पर उनमें रहनेवाला शरीरी पहले भी था और बादमें भी रहेगा। अतः शरीरोंके आने-जानेका उसपर कोई असर नहीं पड़ता। कारण कि जैसे शरीर बालकसे जवान और जवानसे बूढ़ा हो जाता है, पर स्वयं ज्यों-का-त्यों रहता है (इसीलिये हम कहते हैं कि जो मैं बचपनमें था, वही मैं आज हूँ), ऐसे ही एक शरीरसे दूसरे शरीरकी प्राप्ति होनेपर भी स्वयं ज्यों-का-त्यों रहता है। तात्पर्य है कि अवस्थाएँ बदलती हैं, स्वयं नहीं बदलता (२। ११—१३)।

जैसे शरीर नाशवान् और परिवर्तनशील है, ऐसे ही सम्पूर्ण सांसारिक पदार्थ नाशवान् और परिवर्तनशील हैं। उन पदार्थोंमें हमारी अनुकूलताकी भावना हो जाती है तो वे सुख देनेवाले हो जाते हैं और प्रतिकूलताकी भावना हो जाती है तो वे दुःख देनेवाले हो जाते हैं। शरीरादि सम्पूर्ण प्राकृत पदार्थ आने-जानेवाले, उत्पन्न और नष्ट होनेवाले हैं। वे एक क्षण भी स्थिर नहीं रहते। जिस मनुष्यपर इन प्राकृत पदार्थोंके आने-जानेका किंचिन्मात्र भी असर नहीं पड़ता, वह परमात्मतत्त्वको प्राप्त हो जाता है (२। १४-१५)।

नाशवान् शरीरादि पदार्थ 'असत्' हैं और अविनाशी शरीरी 'सत्' है। असत्की तो सत्ता नहीं है और सत्का अभाव नहीं है। असत्की जो सत्ता प्रतीत होती है, वह भी वास्तवमें सत्की सत्तासे ही है। अतः सत् और असत्—दोनोंके तत्त्वको जाननेवाले महापुरुष एक सत्-तत्त्वका ही अनुभव करते हैं अर्थात् उनकी दृष्टिमें एक सत्-तत्त्वके सिवा और किसीकी भी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती। यह सत्-तत्त्व सम्पूर्ण संसारमें व्याप्त है। संसारका नाश होनेपर भी इस सत्-तत्त्वका कभी नाश नहीं होता। परंतु देखने और जाननेमें आनेवाले जितने शरीर हैं, वे सब-के-सब असत् हैं। उनका प्रतिक्षण ही नाश हो रहा है। उनको 'नाशवान्' कहते हैं; क्योंकि नाशके सिवा उनमें और कुछ है ही नहीं। जैसे शरीरोंका विनाशीपना नित्य है, ऐसे ही उनमें रहनेवाले शरीरीका अविनाशीपना नित्य है (२। १६—१८)।

यह शरीरी न किसीको मारता है और न किसीसे मारा जाता है अर्थात् यह मरने-मारनेकी क्रियाओंसे सर्वथा रहित है। जो इसको मरने-मारनेवाला मानते हैं, वे मनुष्य वास्तवमें इसको जानते नहीं। कारण कि यह शरीरी जन्म-मरणसे रहित, नित्य-निरन्तर रहनेवाला, शाश्वत और अनादि है। शरीरमें तो छः विकार होते हैं—उत्पन्न होना, सत्तावाला दीखना, बदलना, बढ़ना, क्षीण होना और नष्ट होना; परंतु शरीरी इन छहों विकारोंसे रहित है। अतः शरीरके मारे जानेपर भी यह मारा नहीं जाता। जो मनुष्य शरीरीको इस प्रकार छहों विकारोंसे रहित जान लेता है, वह कैसे किसको मारे और कैसे किसको मरवाये? तात्पर्य है कि शरीरी किसी भी क्रियाका न तो कर्ता (करनेवाला) है और न कारयिता (करवानेवाला) है (२। १९—२१)।

मरना और जीना शरीरोंका होता है, शरीरीका नहीं। जैसे पुराने कपड़े उतारनेसे मनुष्य मर नहीं जाता और दूसरे नये कपड़े पहननेसे मनुष्यका जन्म नहीं हो जाता, ऐसे ही पुराने शरीरोंको छोड़नेपर शरीरी मर नहीं जाता और नये शरीरोंमें

जानेपर शरीरीका जन्म नहीं हो जाता। शरीरोंके बदलनेपर भी शरीरी ज्यों-का-त्यों ही रहता है। इस शरीरीको शस्त्र काट नहीं सकते, अग्नि जला नहीं सकती, जल गीला नहीं कर सकता और वायु सुखा नहीं सकती। कारण कि यह शरीरी अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य और अशोष्य है। तात्पर्य है कि काटना, जलाना आदि क्रियाएँ संसारमें ही चलती हैं। शरीरीपर इन क्रियाओंका किंचिन्मात्र भी असर नहीं पड़ता। यह शरीरी सब कालमें है और सब वस्तुओंमें है। इसमें आने-जानेकी और हिलनेकी क्रिया नहीं है। देश, काल, क्रिया, वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, घटना आदि तो नहीं रहते, पर शरीरी रहता है। यह शरीरी स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनों शरीरोंसे अतीत है। ये शरीर तो नहीं रहते, पर शरीरी रहता है (२।२२—२५)।

शरीर पहले भी नहीं था, पीछे भी नहीं रहेगा तथा बीचमें भी इसका प्रतिक्षण उत्पत्ति और विनाश हो रहा है। यह नित्यजात और नित्यमृत है। कारण कि यह प्रतिक्षण पहली अवस्थाको छोड़कर दूसरी अवस्थाको धारण करता रहता है। पहली अवस्थाको छोड़ना मरना हुआ और दूसरी अवस्थाको धारण करना जन्मना हुआ। इस प्रकार नित्यजात और नित्यमृत होनेके कारण वास्तवमें इस शरीरकी स्थिति है ही नहीं। उत्पत्ति-विनाशकी परम्पराको ही स्थिति कह देते हैं। इसलिये जो पैदा हुआ है, उसकी मृत्यु अवश्य होगी, इसका कोई परिहार (निवारण) नहीं कर सकता (२।२६-२७)।

शरीर पहले भी अव्यक्त था और बादमें भी अव्यक्त हो जायगा, केवल बीचमें ही व्यक्त दीखता है। परंतु शरीरी व्यक्त-अव्यक्त भावसे रहित है। वास्तवमें शब्दोंके द्वारा इस शरीरीका वर्णन नहीं हो सकता। जैसे सांसारिक वस्तुएँ देखने, कहने, सुनने और जाननेमें आती हैं, ऐसे यह शरीरी देखने, कहने, सुनने और जाननेमें नहीं आता। कारण कि यह इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिका विषय नहीं है। जानने, बोलने, सुनने आदिकी शक्तियाँ संसारमें ही काम करती हैं। शरीरीको तो स्वयंसे ही जाना जा सकता है; क्योंकि यह करणनिरपेक्ष तत्त्व है (२।२८-२९)।

इस प्रकार शरीरीके अविनाशीपनको जो जान लेता है, उसमें शोक, चिन्ता, भय, उद्वेग आदि विकार नहीं होते। अगर उसमें ये विकार होते हैं तो वास्तवमें उसने शरीरीको जाना नहीं है। तात्पर्य है कि असत्‌की सत्ता नहीं है और सत्‌का अभाव नहीं है—इस बातको केवल सीखना नहीं है, प्रत्युत इसका अनुभव करना है। शोक केवल सीखनेसे नहीं मिटता, प्रत्युत अनुभव करनेसे मिटता है। अनुभव होनेसे शोक टिक सकता ही नहीं (२।३०)।*

इस प्रकार शरीर और शरीरीके भेदको समझना और समझकर स्वीकार करना अपने विवेकका आदर है। विवेकमें सत् और असत् दोनों रहते हैं। विवेकका आदर करनेसे सत्‌का आदर और असत्‌का निरादर स्वतः हो जाता है। असत्‌का निरादर होनेसे साधक असत्‌से ऊँचा उठ जाता है और स्वतः-प्राप्त सत्-तत्त्वको प्राप्त कर लेता है।

सत् अपना स्वरूप है और असत् प्रकृतिका स्वरूप है। जब साधक अपने विवेकका आदर करता है अर्थात् विवेकको महत्त्व देता है, तब उसके साधनमें सत् (स्वयं) की प्रधानता होती है और जब वह अपने विवेकका आदर नहीं करता, तब उसके साधनमें असत् (इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि) की प्रधानता होती है।

२. विवेककी आवश्यकता

मनुष्योंके अन्तःकरणमें यह बात बड़ी गहराईसे बैठी हुई है कि जो कुछ होगा, करनेसे ही होगा। परमात्माकी प्राप्ति भी तभी होगी, जब उसके लिये उद्योग करेंगे। जब संसारका काम

---

* गीतामें भगवान्‌ने उपदेशके आरम्भमें, मध्यमें और अन्तमें—तीनों ही जगह शोक-चिन्ता न करनेकी बात कही है। इसका तात्पर्य यह है कि सुख-दुःखमें बाहरके पदार्थ, परिस्थिति आदि कारण नहीं हैं। जिसके भीतर शोक-चिन्ता नहीं है, वही वास्तवमें सुखी है और जिसके भीतर शोक-चिन्ता है, वही वास्तवमें दुःखी है। देखनेमें भी आता है कि पासमें अत्यधिक धन आदि पदार्थ होनेपर भी धनी व्यक्ति दुःखी रहते हैं और पासमें धन आदि पदार्थोंका अभाव होनेपर भी तत्त्वज्ञ संत-महात्मा सुखी रहते हैं। इसीलिये धनी व्यक्ति तो सुख-शान्तिके लिये संत-महात्माओंके पास जाते हैं, पर संत-महात्मा सुख-शान्तिके लिये धनी व्यक्तिके पास नहीं जाते। परंतु आज लोग भीतरकी शान्तिका आदर न करके बाहरकी वस्तुओं (धन आदि) का ही आदर करते हैं, उनका ही संग्रह करते हैं और बाहरके सुखको ही सुख मानकर उसके लिये नसबंदी, गर्भपात-जैसे महापाप करते हैं। अगर वे बाहरके सुखका आदर न करके भीतरके सुख-शान्तिका आदर करें तो सब-के-सब जीवन्मुक्त हो जायँ, सदाके लिये सुखी हो जायँ!

भी बिना कुछ किये नहीं होता, तो फिर सबसे ऊँचे परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति बिना कुछ किये कैसे हो जायगी ? आदि-आदि। इतना ही नहीं, वेदोंमें, शास्त्रोंमें, संतवाणीमें, सब जगह परमात्मप्राप्तिके लिये प्रायः करनेकी बातपर ही जोर दिया गया है।

वास्तवमें 'जो कुछ होगा, करनेसे ही होगा'—यह बात उसीमें लागू होती है, जो उत्पन्न होनेवाला और अप्राप्त है। जो अनुत्पन्न और नित्यप्राप्त है, उसमें यह बात लागू नहीं होती। कारण कि अनुत्पन्न और नित्यप्राप्त तत्त्वका निर्माण नहीं करना है, उसको कहींसे लाना नहीं है, प्रत्युत उसका अन्वेषण करना है, अनुभव करना है, उसकी तरफ लक्ष्य करना है। तात्पर्य है कि कुछ करनेकी बात संसारके लिये है, परमात्माके लिये नहीं। संसारकी प्राप्तिका जो तरीका है, वह तरीका परमात्माकी प्राप्तिका नहीं है। कारण कि संसार सब समय सबको समानरूपसे प्राप्त नहीं है, जब कि परमात्मा सब समय सबको समानरूपसे प्राप्त हैं। वे परमात्मा सम्पूर्ण देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति, घटना आदिमें समानरूपसे परिपूर्ण हैं। संसारको प्राप्त मान लिया, 'नहीं'को 'है' मान लिया, इसी कारण परमात्मतत्त्व 'है' का अनुभव नहीं हो रहा है।

उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंकी प्राप्ति तो कर्म करनेसे होती है, पर अनुत्पन्न तत्त्वकी प्राप्ति अपने विवेकको महत्त्व देनेसे होती है। अतः परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति क्रियासाध्य नहीं है, प्रत्युत विवेकसाध्य है। अपने विवेकको महत्त्व देना ही 'करणनिरपेक्ष साधन' है।

जैसे विवेक करणनिरपेक्ष है, ऐसे करणसापेक्ष साधन विवेकनिरपेक्ष नहीं है। वास्तवमें कोई भी साधन विवेकनिरपेक्ष हो ही नहीं सकता। कारण कि विवेकको तो क्रियाकी आवश्यकता नहीं है, पर क्रियाको विवेककी बड़ी भारी आवश्यकता है। विवेकके बिना क्रिया जड़ है और क्रियाके बिना विवेक चिन्मय तत्त्वज्ञान है। इसलिये कर्मोंसे मनुष्य बँधता है और विवेकसे मुक्त हो जाता है—

'कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया तु प्रमुच्यते।'

(महा० शान्ति० २४१।७)

तपस्या, यज्ञ, दान, तीर्थ, व्रत आदि जितने भी श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ कर्म हैं, उनके बलपर परमात्माकी प्राप्ति नहीं हो सकती। भगवान् कहते हैं—

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै-
र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर॥

(गीता ११।४८)

'हे कुरुप्रवीर ! मनुष्यलोकमें इस प्रकारके विश्वरूपवाला मैं न वेदोंके पढ़नेसे, न यज्ञोंके अनुष्ठानसे, न दानसे, न उग्र तपोंसे और न मात्र क्रियाओंसे तेरे (कृपापात्रके) सिवा और किसीके द्वारा देखा जाना शक्य हूँ।'

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥

(गीता ११।५३)

'जिस प्रकार तुमने मुझे देखा है, इस प्रकारका मैं न तो वेदोंसे, न तपसे, न दानसे और न यज्ञसे ही देखा जा सकता हूँ।'

जब साधक इन तपस्या, यज्ञ, दान आदिसे ऊँचा उठ जाता है, तब उसको परमात्माकी प्राप्ति होती है—

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्॥

(गीता ८।२८)

'योगी इसको जानकर वेदोंमें, यज्ञोंमें, तपोंमें तथा दानमें जो-जो पुण्यफल कहे गये हैं, उन सभी पुण्यफलोंका अतिक्रमण कर जाता है और आदिस्थान परमात्माको प्राप्त हो जाता है।'

तपस्या आदि करके जब मनुष्य हार जाता है, उसमें अपने बलका अभिमान नहीं रहता, तब परमात्माकी प्राप्ति होती है। तात्पर्य है कि जिस बलका अभिमान परमात्मप्राप्तिमें बाधक है, वह बल जब तपस्यासे खर्च हो जाता है, जल जाता है, तब परमात्माकी कृपासे उनकी प्राप्ति होती है। अतः परमात्मप्राप्तिमें अपने बल, बुद्धि, योग्यता, विद्वत्ता आदिका अभिमान ही बाधक है—

संसृत मूल सूलप्रद नाना। सकल सोक दायक अभिमाना॥

(मानस ७।७४।३)

'ईश्वरस्याप्यभिमानद्वेषित्वाद् दैन्यप्रियत्वाच्च'

(नारदभक्तिसूत्र २७)

'ईश्वरका भी अभिमानसे द्वेषभाव और दैन्यसे प्रियभाव है।'

अर्जुन भगवान्‌से कहते हैं—

'न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः।

(गीता १०।१४)

'हे भगवन्! आपके प्रकट होनेको न तो देवता जानते हैं और न दानव जानते हैं।'

तात्पर्य है कि देवताओंमें जो दिव्यता है, वह भगवान्‌को जाननेमें कुछ भी काम नहीं आती। जब देवता भी भगवान्‌को नहीं जान सकते, तो फिर दानव उनको जान ही कैसे सकते हैं? परंतु अर्जुन दानवोंके द्वारा भी भगवान्‌को न जाननेकी बात कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि दानवोंके पास मायाकी बहुत विलक्षण शक्ति है; परंतु वह मायाशक्ति भी भगवान्‌को जाननेमें कुछ काम नहीं आती। अतः मनुष्य, देवता, दानव आदि कोई भी अपने बलसे, अपनी योग्यतासे, अपनी बुद्धिसे भगवान्‌को नहीं प्राप्त कर सकते।

सब-के-सब साधन मिलकर भी परमात्माकी प्राप्ति नहीं करा सकते। वास्तवमें सभी साधन अपने बलका अभिमान खर्च करनेके लिये ही हैं। अतः साधनसे परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती, प्रत्युत अपने बलका अभिमान (जो परमात्मप्राप्तिमें बाधक है) दूर होता है। साधन करते-करते जब साधकको यह पता लग जाता है कि अपनी सामर्थ्यसे कुछ नहीं होगा, तब उसका अभिमान मिट जाता है और परमात्मप्राप्ति हो जाती है—

दौड़ सके तो दौड़ ले, जब लगि तेरी दौड़।
दौड़ थक्या धोखा मिट्या, वस्तु ठौड़-की-ठौड़॥

जिसकी स्फुरणामात्रसे अनन्त ब्रह्माण्ड पैदा हो जाते हैं, उसको सम्पूर्ण संसार देकर भी कोई कैसे प्राप्त कर सकता है? हमारा अधिकार उसीपर हो सकता है, जिसमें हमारेसे कम बल, बुद्धि, योग्यता, विद्वत्ता आदि हो। परमात्मामें बलकी कमी नहीं है। उनमें अनन्त बल है। परंतु उनमें निर्बलता नहीं है। वह निर्बलता हमारे पास है! इसलिये निर्बल होकर पुकारनेसे वे प्राप्त हो जाते हैं—

जब लगि गज बल अपनो बरत्यो, नेक सर्‌यो नहिं काम।
निरबल ह्वै बलराम पुकार्‌यो, आये आधे नाम॥
सुने री मैंने निरबल के बलराम।

'अशक्तानां हरिर्बलम्'

(ब्रह्मवैवर्त० गण० ३५।९६)

प्रश्न—कर्मका उपयोग कहाँ है?

उत्तर—कर्मका उपयोग संसारसे ऊँचा उठनेके लिये है। संसारसे ऊँचा उठनेका तात्पर्य है—क्रियाकी आसक्ति (करनेका वेग) और पदार्थकी आसक्ति (राग)का मिट जाना। अगर मनुष्य अपने विवेकके द्वारा इन दोनोंको न मिटा सके तो कर्मयोगसे इनको मिटाये। कर्मयोगसे अर्थात् निष्काम-भावसे दूसरोंके हितके लिये कर्तव्य-कर्म करनेसे कर्मोंके वेगकी तथा वर्तमान रागकी निवृत्ति हो जाती है और फलेच्छाका त्याग करनेसे नया राग पैदा नहीं होता। कर्मोंका वेग तथा रागकी निवृत्ति होनेसे मनुष्य योगारूढ़ हो जाता है—

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥
यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते॥

(गीता ६।३-४)

'जो योगमें आरूढ़ होना चाहता है, ऐसे मननशील योगीके लिये कर्तव्य-कर्म करना कारण है और उसी योगारूढ़ मनुष्यका शम (शान्ति) परमात्मप्राप्तिमें कारण है।' (तात्पर्य है कि परमात्मप्राप्तिमें कर्म कारण नहीं है, प्रत्युत कर्मोंके सम्बन्ध-विच्छेदसे होनेवाली शान्ति कारण है।)

'जिस समय न इन्द्रियोंके भोगोंमें तथा न कर्मोंमें ही आसक्त होता है, उस समय वह सम्पूर्ण कर्मोंका त्यागी मनुष्य योगारूढ़ कहा जाता है।'

तात्पर्य है कि कर्मोंका उपयोग वहींतक है, जहाँतक प्रकृतिका राज्य है। प्रकृतिसे अतीत तत्त्वमें कर्मोंका सर्वथा अभाव हो जाता है; क्योंकि क्रिया और पदार्थ सब प्रकृतिजन्य हैं।

प्रश्न—कर्मयोग करणसापेक्ष है या करणनिरपेक्ष ?

उत्तर—कर्मयोग करणनिरपेक्ष अर्थात् विवेकप्रधान साधन है। अगर विवेककी प्रधानता न हो तो 'कर्म' होगा, 'कर्मयोग' होगा ही नहीं। 'कर्म' करणसापेक्ष है, पर 'योग' करणनिरपेक्ष है। तात्पर्य है कि योग (समता)की प्राप्ति क्रियासे नहीं होती, प्रत्युत विवेकसे होती है। अतः कर्मयोग कर्म नहीं है।

योगकी अपेक्षा कर्म दूरसे ही निकृष्ट है—**'दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय।'** (गीता २।४९)। जैसे पर्वतसे अणु बहुत दूर है अर्थात् अणुको पर्वतके पास रखकर दोनोंकी तुलना नहीं की जा सकती, ऐसे ही योगसे कर्म बहुत दूर है अर्थात् योग और कर्मकी तुलना नहीं की जा सकती। योगके बिना कर्म निरर्थक है*।

कर्मयोगमें 'कर्म हमारे लिये है ही नहीं'—यह विवेक मुख्य रहता है। अपने लिये किया गया प्रत्येक कर्म, यहाँतक कि समाधि भी बन्धनकारक है। कारण कि जबतक प्रकृतिके साथ सम्बन्ध है, तबतक करना और न करना—दोनों ही कर्म हैं अर्थात् चलने, बोलने, देखने आदिकी तरह बैठना, मौन होना, सोना, समाधि लगाना आदि भी कर्म ही है। कर्मका सम्बन्ध संसारके साथ है, स्वरूपके साथ नहीं। स्थूलशरीरकी स्थूल संसारके साथ एकता है, सूक्ष्मशरीरकी सूक्ष्म संसारके साथ एकता है तथा कारणशरीरकी कारण संसारके साथ एकता है। अतः स्थूलशरीरसे होनेवाली क्रियाएँ, सूक्ष्मशरीरसे होनेवाला चिन्तन और ध्यान तथा कारणशरीरसे होनेवाली समाधि संसारके लिये ही है, अपने लिये (व्यक्तिगत) नहीं। सत्स्वरूपमें कभी किंचिन्मात्र भी कोई कमी नहीं आती; अतः उसके लिये किसी क्रियाकी आवश्यकता सम्भव ही नहीं है। स्वरूपपर कुछ करनेका दायित्व भी नहीं है अर्थात् उसको अपने लिये कुछ करना ही नहीं है। कुछ करनेका दायित्व उसीपर होता है, जो कर सकता हो। करणोंके बिना कोई कर्म किया ही नहीं जा सकता। करण प्रकृतिमें हैं तथा प्रकृतिके ही कार्य हैं। स्वरूपमें कोई भी करण नहीं है; क्योंकि वह प्रकृति तथा उसके कार्यसे सर्वथा अतीत तत्त्व है। अतः स्वरूपके लिये कुछ करना बनता ही नहीं। इसलिये कर्मयोगी निःस्वार्थभावसे केवल दूसरोंके हितके लिये ही सम्पूर्ण कर्म करता है, जिससे वह प्रकृतिके सम्बन्ध (कर्म-बन्धन)से छूट जाता है—

'यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते।' (गीता ४।२३)

प्रकृतिसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर उसका 'करना' तथा 'न करना'—दोनोंसे ही कोई सम्बन्ध नहीं रहता—

'नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।' (गीता ३।१८)

(क्रमशः)

श्रीहरिनाम

(श्रीविनायकरावजी भट्ट)

कोई ज्ञान, कोई ध्यान, कोई पूजा, पाठ कोई,
कोई योग-आसनोंसे होते हैं सफलकाम।
कोई यज्ञ, कोई दान, कोई व्रत - नियमोंसे,
कोई धर्म-कर्म द्वारा पाते पद अभिराम॥
कोई सत्य, कोई तप, कोई तीर्थ सेवनसे,
गङ्गादिक मज्जनसे जाते कोई पुण्य-धाम।
मेरे जान भुक्ति-मुक्ति-शान्ति-सुख-दाता, सर्व-
साधन-तिलक एक केवल श्रीहरिनाम॥

* योगके बिना 'कर्म' और 'ज्ञान' दोनों निरर्थक हैं, पर 'भक्ति' निरर्थक नहीं है। कारण कि भक्तिमें भगवान्के साथ सम्बन्ध रहता है; अतः भगवान् स्वयं भक्तको योग प्रदान करते हैं—'ददामि बुद्धियोगं तम्' (गीता १०।१०)।

कहानी—

अहिंसा

'इन हिंसकोंका पालन अच्छा नहीं।' बगलमें बैठे केशरीशावककी ओर संकेत करके किशोरने माधवरावसे कहा—'ये किसीके होते नहीं। पता नहीं इन्हें कब क्रोध आ जाय। कम-से-कम इस प्रकार स्वतन्त्र तो नहीं ही रखना चाहिये।'

ओह, यह भोला शिशु, माधवरावने उस सिंह-शिशुके मस्तकपर हाथ फेरते हुए कहा—'इसे क्या बाँधकर रखा जा सकता है ? तुम देखते नहीं कि यह मुझे कितना चाहता है। कुत्तेके समान मेरे पीछे लगा फिरता है।'

'फिर भी……' किशोरने रोका, परंतु माधवराव बिना रुके बोलते गये। 'फिर भी यह हिंसक है और धोखा दे सकता है, तुम यही तो कहना चाहते हो ? सच पूछो तो मैंने इसे इसीलिये पाला भी है। इसकी सहोदरा मेरे द्वारा रक्षित न हो सकी। वह बेचारी इसे अकेली छोड़ गयी। अभी एक महीना ही तो हुआ है उसे मरे। और इसकी माँ—इसके देखते-देखते मैंने इसकी माँका वध किया है।' माधवरावके नेत्र टपकने लगे। कण्ठ भर आया। आँसुओंको पोंछकर उन्होंने अपने पालतू सिंहको देखा। वह चुपचाप इनके मुखको इस प्रकार देख रहा था, मानो वह भी इनके कष्टसे रोना ही चाहता हो।

'मैं इसकी माताका हत्यारा हूँ। यदि यह मुझसे अपनी माताका बदला ले तो वह न्याय होगा। अपने दुष्कर्मका इस प्रकार प्रतीकार करनेका अवसर प्राप्त करनेकी आशासे ही मैंने इसका पालन किया। लेकिन यह अपनी माताके वधिकपर भी विश्वास करता है। देखो न ! उलटे मेरे दुःखसे पीड़ित होता है। इससे प्रतीकारकी भी आशा कहाँ ?'

(२)

वृक्षोंकी आड़ थी, फिर भी घोड़ेकी टापोंके शब्दने सिंहनीको सावधान कर दिया। अपनी गुफासे वह बाहर आयी और तनकर खड़ी हो गयी। उसके साथ उसके दोनों बच्चे भी निकल आये। यद्यपि सिंहनीने उन्हें गुफामें ढकेलना चाहा, किंतु बच्चे तो बच्चे ही ठहरे। वे तो परिस्थिति समझते नहीं। इधर-उधर खिसककर वे माँके पास ही रहना चाहते थे। इधर घोड़ेके पैरोंका शब्द पास आ गया था और सिंहनीको अवकाश नहीं था बच्चोंको गुफाके भीतर लेकर जानेका। उसने उन्हें गुफाके द्वारपर ढकेल दिया और आप कान खड़े करके गुर्राने लगी।

बच्चा देनेपर तो गाय भी मारने दौड़ती है बच्चेके पास जानेवालोंको, फिर सिंहनी तो सिंहनी ही है। बच्चे समीप होनेपर वह असह्य हो जाती है। माधवराव-जैसा प्रवीण शिकारी इसे भलीभाँति जानता था। उसे पता था कि यदि प्रथम लक्ष्यमें ही वह धराशायी नहीं हों गयी तो शिकारीको स्वयं शिकार बननेमें देर न लगेगी। उसके कराल आक्रमणमें सावधानीसे लक्ष्य लेना सरल नहीं है।

भीलोंने ठीक पता बतला दिया था, जहाँ सिंहनीने गुफामें बच्चे दिये थे। झाड़ियोंकी सघनताका आश्रय लेते हुए माधवरावका घोड़ा बढ़ा आ रहा था। अन्तमें एक झाड़ीके पीछे नन्हें-से मैदानमें अपनी ओर मुख किये उस मृगेन्द्रवधूपर दृष्टि पड़ी। घोड़ा रुक गया। धनुषपर बाण चढ़ चुका था। एक सधा हुआ हाथ छूटा। चीत्कारसे जंगल गूँज उठा। सिंहनी तड़पी और गिर गयी।

निपुण शिकारी समझ गया कि अब वह उठ नहीं सकती। घोड़ेसे उतरकर उसे पेड़की डालसे बाँध दिया और स्वयं सिंहनीकी ओर बढ़ा। बाण ठीक मस्तकके मध्यमें लगा था। सिंहनी आड़े पड़ी थी और उसके दोनों बच्चे उसके पास दौड़ आये थे। एक स्तन पी रहा था, दूसरा मुख सूँघ रहा था।

शिकारी स्तम्भित हो गया। उसने देखा—मस्तकसे बाणके पाससे रक्त टपक रहा है। दो भोले शिशु माँके पास हैं और सिंहनीका वह निष्प्राण शरीर अब भी उसे अपने अग्निनेत्रोंसे घूर रहा है। 'हत्यारे इन्हें भी मार !' मानो वह कह रही है। दो क्षण वह रुका रहा और तब धनुष फेंककर दौड़ा और सिंहनीके मुख और पंजोंके मध्य गिर पड़ा। मानो सिंहनी अभी जीवित है और उसे उसके कृत्यका बदला देगी। लेकिन ऐसा कुछ भी नहीं हुआ। सिंहनी ज्यों-की-त्यों उसे घूरती पड़ी रही। अब वह सिंहनीका शव मात्र था। केवल वे बच्चे इस अपरिचितसे डरकर गुफामें भाग गये।

[illegible] थे। वे रुके और उन्होंने

सीटी दी। उनके सहचर जो उन्हें ढूँढ़ ही रहे थे, आ गये। बड़े आदरपूर्वक उन्होंने सिंहनीके उस शवको श्रीनर्मदाजीमें प्रवाहित कर दिया। सिंहचर्मका इस प्रकार व्यर्थ जाना उनके अनुगतोंको सह्य नहीं था, लेकिन वे अपने नायककी कठोर एवं व्याकुल मुद्राके सम्मुख कुछ भी कहनेका साहस न कर सके। वे दोनों बच्चे माधवरावके घर लाये गये। कहना नहीं होगा कि माधवरावने वह फेंका हुआ धनुष फिर कभी नहीं उठाया।

(३)

सहसा चौंककर माधवरावने पीछे देखा। उनका केशरी एक बछड़ेको पटक चुका था और वह बछड़ा डकार रहा था। 'केशरी!' स्वामीके दृढ़ स्वर एवं कठोर नेत्रको देखकर वह सिंह संकुचित हो गया। अपराधीकी भाँति सिर झुकाये वह उनके समीप आकर खड़ा हो गया। बछड़ा उठा और प्राण लेकर भागा। 'सिंह बिगड़ गया है' इस भयसे पासके खेतका किसान भी हल-बैल छोड़कर भाग चुका था। माधवरावने एक बार गम्भीर दृष्टिसे सिंहको देखा और फिर घरकी ओर लौट पड़े।

गुरुदेवने कहा था कि 'जिसके हृदयमें हिंसा नहीं है, उसके समीप पहुँचते ही सभी प्राणी हिंसा भूल जाते हैं।' दूसरे प्राणियोंकी बात तो दूर रही, मेरा पालतू केशरी भी अपनी हिंसा नहीं भूल पाता। अभी उस दिन उसने नौकरपर पंजा चलाया था और आज बछड़ेको दबा बैठा। जब दूध पिलाकर पालनेपर भी वह अपनी हिंसा न छोड़ सका तो दूसरोंकी क्या चर्चा? तब क्या गुरुदेवने ठीक नहीं…… ऐसा कैसे हो सकता है? सच तो यह है कि मैंने केवल शिकार छोड़ा है। हाथोंसे हिंसा छोड़नेपर भी मैं अहिंसक कहाँ हूँ? अभी कल नौकरके द्वारा लालटेनका शीशा टूटनेपर जल उठा, परसों बच्चेको मारते-मारते रुका। माधवराव गम्भीरतासे सोच रहे थे।

'यह हाथमें लाठी? कुत्ता, सर्प, पशु आदि आक्रमण करे तो उसका निवारण होगा। सीधे शब्दोंमें—उसे मारूँगा। यह हिंसा नहीं है?' उन्होंने लाठी फेंक दी। 'यह पहरेदार! कोई चोर, डाकू आये तो……' उन्होंने पहरेदारको विदा कर दिया वेतन देकर। इसी प्रकार वे और भी बहुत कुछ करते एवं सोचते रहे। यह क्रम चला कई दिनोंतक। उनके पास न तो पहरेदार रहा और न कुत्ता। घरके सब अस्त्र-शस्त्र बाँट दिये गये। यहाँतक कि ताला-कुंजी भी नहीं रखा।

लोग समझते थे कि माधवराव पागल हो गये हैं। कुछ ऐसे भी लोग थे, जो उनपर श्रद्धा भी करने लगे। जो भी हो, माधवरावने अपनी समस्त सम्पत्ति जो केशरीके नाम करा दी, वह किसीको अच्छा नहीं लगा। और तब तो सबको और भी बुरा लगा, जब केशरीके बीमार होकर मर जानेपर वे बच्चोंकी भाँति फूट-फूटकर रोने लगे। अन्ततः उन्होंने उसकी चिकित्सा एवं सेवामें कुछ उठा तो रखा नहीं था। फिर एक घातक पशुके लिये इतना व्याकुल होना कहाँकी समझदारी है? लोगोंने समझा कि सिंह क्या मरा, एक विपत्ति टली। अन्यथा उससे सर्वदा खटका लगा ही रहता था।

आलोचनाएँ तो होती ही हैं और माधवरावकी अधिक हुई, किंतु वे थे अपनी धुनके पक्के। लोगोंकी ओरसे उन्होंने अपनेको वज्रबधिर बना लिया। उनका मकान था ग्रामके एक ओर। मकानके सम्मुख थोड़ा हटकर उन्होंने केशरीकी एक पूरे कदकी प्रस्तर-मूर्ति निर्मित कराकर उसे एक पक्के चबूतरेपर स्थापित करा दिया। प्रायः संध्याको वे उस मूर्तिके समीप चबूतरेपर बैठे या उसपर हाथ फेरते मिलते थे।

(४)

दो साँड़ लड़ रहे थे, माधवराव उधरसे निकल गये। दोनोंने लड़ना तो दिया छोड़ और छोटे बछड़ोंके समान उछलकर उनके समीप आ गये। उन्होंने दोनोंको पुचकारा, उनके सिर एवं शरीरपर हाथ फेरा। 'आपसमें लड़ा नहीं करते!' मानो उनके आदेशको पशुओंने समझ लिया। दोनों परस्पर परिचितके समान खेलने लगे।

'माधवराव तो संत हो गये।' एक देखनेवालेने कहा— 'देखो न, साँड़ भी उनकी आज्ञा मानते हैं!' दूसरेने कहा—'साँड़ तो फिर भी सीधे होते हैं, मैंने स्वयं देखा है कि उस सिंह-मूर्तिके चबूतरेपरसे वे एक बिच्छूको हाथसे उठाकर नीचे रख रहे थे। बिच्छूने डंक मारना तो दूर, शरीर भी नहीं हिलाया।' 'लेकिन मैं तो उस दिन घबड़ा गया जब मैंने देखा कि मेरी छोटी बच्ची उस चबूतरेपर एक काले सर्पको दोनों हाथोंसे थप-थपा रही है और साँप काटनेके बदले फण बचाता फिरता है। इतना ही नहीं, वहीं एक भेड़िया भी गुम-सुम बैठा

था और रामूकी बकरीके बच्चे कभी चबूतरेसे उसकी पीठपर और कभी उसकी पीठसे चबूतरेपर उछल रहे थे।'.

सब अपनी-अपनी सुना रहे थे, इतनी देरमें पटेल भी आ गये। उन्होंने अपना अनुभव बताया—'उस दिन मैं जमादारपर बहुत असंतुष्ट था। कहीं मिलता तो खाल खींच लेता। ढूँढ़ते-ढूँढ़ते उसका पता लगा माधवरावके दालानमें। मैं आग-बबूला हुआ पहुँचा। दालानके पास जाते-न-जाते मेरा क्रोध पानी हो गया। रावको देखते ही मुझे बड़ी लज्जा आयी। तभीसे मैंने समझ लिया कि वे अवश्य कोई सिद्ध महात्मा हैं।'

× × ×

माधवरावका शरीर अब नहीं रहा। उनके प्रस्तर-केशरीको लोगोंने सिंदूरसे रँग दिया है और देवीका वाहन समझकर वे उसकी पूजा करते हैं। देखा-देखी मध्यप्रान्त एवं बरारके अधिकांश ग्रामोंमें ग्रामसे बाहर पत्थर या मिट्टीकी सिंह अथवा व्याघ्र-मूर्ति बनाकर पूजनेकी प्रथा चल पड़ी जो अबतक चल रही है। ग्रामीणोंका विश्वास है कि इस प्रकारकी पूजासे वनपशु उन्हें तंग नहीं करेंगे। सुना जाता है कि उस सिंह-मूर्तिके समीप अब भी कोई प्राणी दूसरेपर अपना क्रोध प्रकट नहीं करता।

शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्

[रोगोंसे बचनेके उपाय]

(डॉ० श्रीशरणप्रसादजी)

भोजनकी आदतें

अक्सर व्यक्ति अपनी गलत आदतोंके कारण ही रोगी बनता है। हमारे शरीरका निर्माण इतनी कुशलतापूर्वक हुआ है कि संयम तथा नियमपूर्वक रहनेसे उसको दीर्घकालतक नीरोग-अवस्थामें रखा जा सकता है। शरीरको स्वस्थ रखनेकी दृष्टिसे आहार-विहार-सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण नियमोंका उल्लेख किया जाता है—

१-मिताहार—अति आहार अनेक रोगोंकी जड़ है। हमेशा ख्यालमें रखना चाहिये कि सिर्फ आमाशयमें अधिक खाद्य पदार्थोंको ठूँसकर भर देनेसे शरीर सशक्त नहीं होता। आहारका सम्पूर्ण पाचन होनेपर ही शरीरको पोषण मिलता है। आहार शक्तिका स्रोत अवश्य है, लेकिन शक्ति या उष्णता-निर्माणके साथ-साथ आहारसे मल भी बनता है। मलका भलीभाँति विसर्जन न होनेसे रोगकी उत्पत्ति होती है। अधिक आहार ग्रहण करनेसे पाचन तथा मल-विसर्जन-क्रियामें बाधा उपस्थित होती है और यही सभी रोगोंकी जड़ है।

२-आहारका मिश्रण—एक साथ अनेक प्रकारकी खाद्य वस्तुओंका सेवन नहीं करना चाहिये। एक बारके भोजनमें अधिक-से-अधिक तीन-चार प्रकारकी वस्तुएँ पर्याप्त हैं। जैसे सब्जी, रोटी, दाल, चटनी आदि। इनमें सब्जीका प्रमाण कुल भोजनका ५० प्रतिशत होना चाहिये। भोजनमें एक ही प्रकारका अन्न होनेसे आमाशय एवं आँतोंमें उसका पाचन सुलभ होता है। भोजन सात्त्विक हो। खट्टा, चरपरा एवं बासी भोजन स्वास्थ्यके लिये हानिकारक है।

३-भोजन निश्चित समयपर किया जाय—खाने-पीनेका समय निश्चित होना चाहिये। जब इच्छा हो तभी छोटे बच्चोंकी तरह घर या होटलोंमें खाते रहनेसे पाचन-क्रिया बिगड़ती है। नियत समयपर भूख न लगनेपर उस समयका आहार छोड़ देना चाहिये। हलकी भूख होनेपर अल्पाहार कर सकते हैं और शामको ६ या ८ बजे प्रतिदिनकी तरह भोजन करें। दोपहर और रातके भोजनके बीचमें भूख लगनेपर कुछ न खाया जाय। केवल तरल पदार्थ (हलका पेय) लिया जा सकता है।

४-उत्तेजक या मादक वस्तुओंका त्याग—चाय, काफी, बीड़ी, सिगरेट, तंबाकू, भाँग, गाँजा, शराब आदि नशीली चीजोंको हमेशाके लिये छोड़ देना ही स्वस्थ जीवनकी अभिलाषावालेके लिये श्रेयस्कर है।

५-विश्रान्ति—कामकी तरह आराम तथा नींदका समय निश्चित और व्यवस्थित होना चाहिये। क्योंकि नींद या

आरामके समय शरीरकी तन्त्रिकाओंमें शक्ति संचित होती है और टूटे-फूटे कोषाणुओंकी क्षति-पूर्ति होती है। इसलिये रातको ९ बजे या अधिक-से-अधिक १० बजेके पूर्व बिस्तरमें चले जाना चाहिये, ताकि प्रातः ४-५ बजे उठकर दैनिक नित्यकर्मसे निवृत्त हो घूमने और व्यायाम आदिके लिये समय मिल सके।

६-खूब अच्छी तरह चबाकर खायें—मिताहारके अभ्यासीके लिये यह आवश्यक है कि प्रत्येक खाद्य वस्तुको अच्छी तरह चबाया जाय। अति आहारी व्यक्ति बहुत जल्दी-जल्दी कम चबाते हुए खाता है। अच्छी तरह चबानेसे अल्प भोजनसे ही तृप्ति तथा पर्याप्त पोषण मिलता है। रोटी या अन्य ठोस वस्तुको दूध, छाछ, दाल, कढ़ी या पतले सागके पानीके साथ गलेके नीचे उतारने या उसमें भिगोकर खानेसे दो प्रकारके नुकसान होते हैं—

(अ) लालारस या मुँहकी लार, जो एक महत्त्वपूर्ण पाचक रस है और जो श्वेतसार पदार्थोंका आंशिक पाचन करता है, वह भोजनके साथ मिश्रित नहीं हो पाता और उसके लाभसे हम वञ्चित रहते हैं।

(आ) हमारे दाँत चबानेके लिये हैं। वैसा न करनेपर दाँतोंका कार्य आमाशय एवं आँतोंको करना पड़ता है, जिससे उनमें दर्द, सूजन, अपचन, वायुप्रकोप आदि रोग उत्पन्न होते हैं।

उपर्युक्त नियमोंका पालन करनेसे विशेष इलाज किये बिना ही कब्जकी बीमारी दूर हो सकती है।

आरोग्यके सामान्य नियम

शरीर और मनकी शान्त अवस्थामें अच्छी भूख लगनेपर उचित मात्रामें भोजन किया जाय, क्योंकि अशान्त या क्रुद्ध मनःस्थिति या अक्षुधा-कालमें पाचक रसोंका स्राव नहीं होता। फलतः आहार दीर्घकालतक आमाशयमें ही पड़ा रहता है। भोजनकी मात्रा कैसे निश्चित की जाय? इसका सरल उपाय यह है कि प्रातःकालीन नाश्तेके बाद दोपहरको भोजनके समय अच्छी तरह भूख लगनी चाहिये। अगर १२ बजे भूख खुलकर नहीं लगती है, तो ऐसा समझना चाहिये कि नाश्ता अधिक हुआ है। इसी प्रकार १२ बजे भोजनके पश्चात् शामको भोजनके समय भी अच्छी भूख लगनी चाहिये। इस तरह भोजनकी मात्राके औचित्यका पता लग जायगा।

भोजन करते समय हमारी अन्तःप्रेरणा स्वतः अधिक भोजन करनेसे रोकती है। लेकिन अंदरकी आवाजकी अवहेलना करके लोग केवल स्वादके वशीभूत होकर अधिक भोजन करते हैं। अन्तःप्रेरणाको जीवित रखनेके लिये उनका आदेश पालन करना अनिवार्य है।

बिना भूखके भोजन करना रोग मोल लेने-जैसा है, क्योंकि पाचक रसोंके अभावमें ही भूख नहीं लगती।

पाचन-तन्त्रके अलावा सभी अङ्ग-प्रत्यङ्गोंको कार्यक्षम बनाये रखनेके लिये प्रतिदिन नियमित रूपसे व्यायाम करना जरूरी है। व्यायामसे सम्पूर्ण शरीरके रक्त-संचारमें वृद्धि होती है। फलतः पाचन एवं मल-विसर्जन-क्रिया भी सुचारु रूपसे होती है। शौचके समय जोर न लगायें। मूत्र-त्यागकी तरह शौचकी क्रिया भी आसानीसे अल्प समयमें होनी चाहिये। शौचके समय जोर लगाना कब्जकी निशानी है, इससे भविष्यमें हार्नियाँकी (आँत उतरनेकी) बीमारी होनेकी सम्भावना रहती है। (क्रमशः)

राजाको सीख

एक राजाने किसी गाँवमें एक नया महल बनवाया। उस महलके बगलमें एक गरीब बुढ़ियाकी झोंपड़ी थी। उस झोंपड़ीका धुआँ राजाके महलमें जाता था। इसलिये राजाने बुढ़ियाके पास सिपाही भेजकर उसे आज्ञा दी कि वह अपनी झोंपड़ी वहाँसे हटा ले। बुढ़ियाने इनकार कर दिया। सिपाहियोंने बहुत डाँटा-फटकारा, पर वह नहीं मानी। तब उसे राजाने बुलाकर पूछा कि 'तू झोंपड़ी क्यों नहीं हटाती?' उसने कहा—'महाराज! मैं तो आपका इतना बड़ा आलीशान महल देख सकती हूँ, जरा भी नहीं जलती और आपकी आँखोंमें मेरी टूटी-फूटी फूसकी मढ़ैया भी खटकती है। यही क्या आपका न्याय है?' राजा सुनकर लज्जित हो गया और बुढ़िया माईका सत्कार करके उसको बिदा कर दिया।

पढ़ो, समझो और करो

(१)

गो-रक्षाका फल

'कल्याण' वर्ष ६५के पाँचवें अङ्कमें 'पढ़ो, समझो और करो' शीर्षकके अन्तर्गत 'गोरक्षाका चमत्कार'-जैसी एक सत्य घटना मुझे भी प्रत्यक्षरूपमें देखनेको मिली, जिसका विवरण इस प्रकार है—

सन् १९८५ में श्रीभागचन्द्र जैन, व्याख्याता श्रीतीरामन सोहले और मैं शासकीय हाई स्कूलमें एक साथ कार्यरत थे। हम तीनों प्रायः धार्मिक प्रसंगों एवं जीव-दया आदि विषयोंपर चर्चा करते रहते थे। श्रीभागचन्द्र जैन अहिंसाके कट्टर समर्थक, भावुक हृदयवाले नम्र व्यक्ति हैं। तब हमारा विद्यालय राजपथके किनारे जनपदके मनोरञ्जन-कक्षमें लगता था। उसीके पास खुला मैदान, श्रीजैनका आवास एवं निकटमें ही 'अग्नि' नामक नदी है। राजपथके दोनों ओर कुछ होटल एवं दुकानें भी हैं। गाँवके लोग शौचादिके लिये नदी या जंगलका उपयोग करते हैं। एक दिन अप्रैल माहमें प्रातःकाल श्रीजैन शौचादिके लिये नदी-किनारे गये थे, तभी एक श्वेत वर्णकी कमजोर-सी गाय दौड़कर उनके पास आ पहुँची। श्रीजैनने उसे पुचकारा एवं सहलाया तो वह उनके पीछे-पीछे चलती हुई उनके घर आ गयी और दरवाजेकी चौखटपर पैर रखकर खड़ी हो गयी। वास्तवमें वह गाय श्रीजैनके आवास-गृहके पास खुले मैदानमें ठहरी हुई गायोंके झुंडमेंसे थी, जिन्हें कसाई महाराष्ट्र ले जा रहे थे। थोड़ी देरमें कसाई उस गायको लेने आ पहुँचा। जैसे ही कसाईने उस गायको डंडा मारकर वापस ले जाना चाहा, श्रीजैन सामने आ गये और उसे ऐसा न करनेको कहा, किंतु कसाई न माना। तभी गाय कुछ आगे बढ़कर श्रीजैनके पास खड़ी होकर उन्हें कातर दृष्टिसे देखने लगी। यह देख श्रीजैनने कसाईसे वह गाय उचित मूल्यपर बेचनेको कहा और पाँच सौ रुपयेमें उसे खरीद लिया। आस-पासके देखनेवाले लोग कहने लगे—'श्रीजैन अजीब व्यक्ति हैं, जिन्होंने इस बूढ़ी, मरियल, बाँझ गायको खरीद लिया है।' श्रीजैन लोगोंके ऐसे व्यंग्य-वचनोंकी परवाह न करते हुए बड़ी श्रद्धासे गौ-सेवामें लगे रहे। आश्चर्य तो तब हुआ, जब एक माहके भीतर ही गायने एक सुन्दर-स्वस्थ बछड़ेको जन्म देकर श्रीजैनको दूध, घी आदिसे सम्पन्न कर दिया। श्रीजैनने एक प्राणीकी प्रत्यक्ष एवं दूसरेकी परोक्षमें रक्षा करते हुए अपना अहिंसा-धर्म सिद्ध कर दिया था।

वास्तवमें श्रद्धापूर्वक गौकी सच्ची सेवासे सभी प्रकारकी समृद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। शास्त्रोंमें गो-माताको सर्वदेवमयी कहा गया है। इसलिये गौकी सेवासे सभी देवताओंकी सेवा हो जाती है, इससे व्यक्तिको महान् पुण्य प्राप्त होता है। गौके दर्शन, स्पर्श, पूजन, प्रदक्षिणा, नमस्कार तथा उसकी सेवासे व्यक्ति दिव्य लाभ प्राप्त करता है। मौकेपर किये गये कार्यका विशेष महत्त्व है। श्रीजैनने कसाईसे गायको बचाकर उसकी निष्काम सेवाका संकल्प लिया। यह निर्णय ही स्वयंमें एक महान् निर्णय था, जो आगे चलकर उनकी सुख और समृद्धिका द्योतक बना।

—श्रीकाशीनाथ भारद्वाज

(२)

निष्ठावान् शिष्य

रेलमें मैजिस्ट्रेट-चेकिंग खूब जोरोंसे चल रही थी। मथुरा जंक्शनसे वेस्टर्न एक्सप्रेस गाड़ी चली और जाजमपट्टी तथा भरतपुर स्टेशनके बीच रोक दी गयी। चेकिंग चलने लगी। बिना टिकट-यात्रा करनेवाले बहुत-से लोग पकड़े गये और दण्डित हुए। ८४ नंबरके बाद ८५ नंबरका अपराधी सामने लाया गया। मैजिस्ट्रेटने कहा—'क्यों साहब ! आप वयोवृद्ध होकर भी बिना टिकट यात्रा क्यों किया करते हैं ?'

उन्होंने कहा—'श्रीमन् ! मैं जानता हूँ कि बिना टिकट यात्रा करना अपराध है, किंतु मुझे विवश होकर ही ऐसा करना पड़ा, टिकट लेनेका समय नहीं मिला। सोचा था कि गॉर्ड साहबसे कह दूँगा, किंतु गाड़ीमें अधिक भीड़ होनेके कारण उनसे मिलने और कहनेका मौका ही नहीं मिला।'

मैजिस्ट्रेटने कहा—'तब तो आपपर दो सौ रुपया जुर्माना किया जाता है।' इतना कहकर दो सौ रुपये जुर्माना लिख दिया। दो सौ रुपये जुर्माना सुनते ही वृद्ध सज्जनकी आँखोंमें आँसू डबडबा आये और वे लड़खड़ाती जबानसे बोले—

'हुजूर ! विपत्तिमें ही विपत्ति आया करती है। रुपयेके लिये ही तो मैं वृन्दावनमें रहनेवाले सेठ द्वारिकानाथजीके पास गया था। वहाँ उनसे भेंट न होनेके कारण मुझे शीघ्र लौटना पड़ा, क्योंकि आजसे तीसरे दिन मुझे पाँच सौ रुपयोंकी सख्त जरूरत आ पड़ी है।' इसपर मैजिस्ट्रेट साहबने पूछा—'उनसे आपका कैसे परिचय है ? वे आपको रुपये कैसे देते ?'

'हुजूर ! मैं उनके यहाँ सात वर्ष रह चुका हूँ। तब मैं वृन्दावनमें मिडिल स्कूलमें अध्यापक था। सेठ साहबका एक लड़का था, उसे मैं ट्यूशन पढ़ाया करता था। इतने भारी धनी होनेपर भी उनमें लेशमात्र अभिमान नहीं है। आश्चर्य तो यह है कि उनके परिवारमें जितने भी व्यक्ति हैं, सभी अभिमान-रहित, सुसंस्कृत, शिष्ट और बड़े दयालु हैं।'

तो फिर क्या हुआ, मैजिस्ट्रेट साहबने पूछा। 'वे घर नहीं हैं ? तीर्थयात्रापर गये हुए हैं'—वृद्ध सज्जनने कहा।

मैजिस्ट्रेटने पुनः पूछा—'वे मिल जाते तो क्या आपको रुपये दे देते ? ऐसा आपको विश्वास है ?'

वृद्ध सज्जन बोले—'अवश्य दे देते, क्योंकि वे दयाकी मूर्ति हैं। मैं जिस समय वहाँ था, तो बराबर देखता था कि किसी अपरिचितको भी दुःखमें देखकर वे उसकी जरूरत समझकर द्रवित हो जाते और हजार-हजार रुपये तक दे देते थे। वे सदा यही कहा करते कि उस धनसे क्या लाभ जो समयपर किसीके काम न आ सके।

मैजिस्ट्रेटने पूछा—'यह आप अबसे कितने समय-पूर्वकी बात कर रहे हैं ?'

वृद्ध सज्जन बोले—'हुजूर ! लगभग चालीस वर्षपूर्वकी बात है।'

'इतना समय व्यतीत हो जानेपर भी आपपर उनका वही भाव होगा, यह आप कैसे समझ रहे हैं ?' मैजिस्ट्रेट साहबने प्रश्न किया।

इसपर वे बोले—'अवश्य वही भाव होगा, क्योंकि वे मनुष्य नहीं देवस्वरूप ही मालूम होते हैं। सज्जनोंका स्वभाव और प्रेम-सौहार्द तो जन्मान्तरमें भी ज्यों-का-त्यों बना रहता है। उनसे भेंट ही नहीं हुई, तो मैं क्या करूँ ? भेंट हो जाती तो पाँच सौ क्या, अगर मैं उनसे हजारों रुपये भी माँगता तो मुझे अवश्य मिल जाते।'

तदनन्तर मैजिस्ट्रेट साहबने उनसे कहा—'हम समझ गये कि आप जान-बूझकर बिना टिकट यात्रा करनेवाले व्यक्ति नहीं हैं, किंतु हमने नियमानुकूल जुर्माना कर दिया। अब तो ये रुपये आपको भरने ही पड़ेंगे और न देनेपर जेल जाना पड़ेगा।'

इसके बाद मैजिस्ट्रेट साहबने एक पत्र लिखकर अपने चपरासीके हाथमें दिया और कहा—तुम जाओ, इस पत्रको डैम्पियर नगरमें लाल कोठीवाले सेठजीको दे दो। उनसे जो कुछ मिले, वह लेकर तुरंत मेरे पास वापस आ जाओ। चपरासी मैजिस्ट्रेट साहबके हाथसे पत्र लेकर चल दिया, और इधर मैजिस्ट्रेट साहब अपने खेमेमें चले गये। करीब ढाई घंटेमें चपरासी डैम्पियर नगर मथुरासे लौटकर आ गया और जो कुछ सामान लाया था, सब उसने साहबके आगे प्रस्तुत कर दिया। मैजिस्ट्रेट साहबने चपरासीसे कहा—'पचासी नबरवाले अपराधीको हाजिर करो।'

वृद्ध सज्जन उपस्थित हुए, उनके आते ही मैजिस्ट्रेट साहबने उठकर बड़े आदरसे और श्रद्धाभावसे उन्हें कुर्सीपर बैठाया। अब तो वृद्ध सज्जनके मनमें अनेक प्रकारके संकल्प-विकल्प उठने लगे।

मैजिस्ट्रेट साहबने उन वृद्ध सज्जनके आगे धोती, चादर और सात सौ रुपये रखकर उनके दोनों चरण छूकर प्रणाम किया और कहा—'आपसे ट्यूशन पढ़नेवाला विद्यार्थी मैं ही हूँ। दो सौ रुपये तो आप जुर्मानेके भर दीजिये और बाकी पाँच सौ रुपये लेकर परसों जो आपका आवश्यक कार्य है, उसे पूरा कर लीजिये।' सुनते ही वृद्ध महाशयकी आँखें शीतल प्रेमाश्रुओंसे सजल हो गयीं और उन्होंने मैजिस्ट्रेटको हृदयसे लगा लिया और कहने लगे—'आप-जैसा सुयोग्य और कर्तव्यनिष्ठ शिष्य पाकर आज मैं कृतार्थ हो गया।'

—श्रीवल्लभदासजी बिन्नानी 'व्रजेश'

(३)

भगवान्‌के भरोसे

घटना मई १९९१ ई० की है। मैंने अपनी पुत्री सावित्रीके विवाहके खर्च-हेतु बैंकसे ऋण लिया था और जब घर आकर रुपये गिनने लगा तो दस-दसके दस नोट अधिक निकले। गिननेमें खजांचीसे भूल हो गयी थी। वैशाखकी भीषण गर्मीमें

वापस बैंक लौटनेके लिये मैंने हिम्मत तो की, पर मालूम हुआ कि पुत्री सावित्रीकी तबीयत अचानक अधिक खराब हो गयी है। अब उसे चिकित्सालय ले जाना आवश्यक हो गया। मैं बड़े ऊहापोहमें पड़ गया। एकाएक मनमें विचार आया कि अगर मैंने पैसे लौटानेमें विलम्ब किया तो बैंकके कैशियर महोदयके लिये बड़ी समस्या हो जायगी। अतः तपती लूमें मैं पुत्रीकी चिकित्सा आदि सभी आवश्यक कार्योंको भगवान्के भरोसे छोड़कर बैंक गया और वह बढ़ी हुई धनराशि उन्हें लौटा दी। बैंकके कैशियर तथा स्टाफसहित मैनेजर साहब बड़े प्रसन्न हुए। इस कार्यसे मुझे बड़ा संतोष और आनन्द हुआ। वापस आते समय मार्गमें अपनी पुत्री आदिकी चिकित्साके सम्बन्धमें चिन्तित था, पर घर आकर आश्चर्य हुआ, मैंने देखा कि सावित्रीकी तबीयत स्वतः बिलकुल अच्छी हो गयी है और रसोई आदिका अन्य कार्य भी घरमें आये मित्रगण पूरा कर चुके हैं।

थोड़ी-सी ईमानदारीसे ही भगवान्ने मुझे इलाजके खर्च तथा दौड़-धूपकी परेशानीसे बचा लिया। मुझे लगा कि भगवान्पर पूर्ण भरोसा रखकर यदि हम सभी निश्चिन्त हो जायँ और ईमानदारीपूर्वक सत्कर्मोंका अनुष्ठान करते रहें तथा सभी कुछ भगवान्को अर्पण कर दें तो भगवान् स्वयं सारा दायित्व अपने ऊपर लेकर हमारा वास्तविक हितसाधन कर देते हैं।

—श्रीद्वारकालालजी

(४)

एपेन्डीसाईटिस (आन्त्रपुच्छ) पर सफल प्रयोग

एपेन्डीसाईटिसका डॉक्टर लोग ऑपरेशन करानेकी सलाह देते हैं, पर अब इसकी आवश्यकता नहीं। इस अनुभूत उपचारको अपनाइये। यह परीक्षित नुसखा है। जिन्होंने इसको अपनाया है, पूर्ण लाभ उठाया है। मैंने कई रोगियोंपर इसका प्रयोग करके शत-प्रतिशत सफलता पायी है। जंगलकी एक बूटी 'बनतुलसा' है। उसको पीसकर लुगदी बनाकर किसी लोहेकी करछुल आदिपर उसको गरम करके (भूनकर नहीं) उसपर थोड़ा-सा नमक छिड़क दें और दर्दके स्थानपर उस लुगदीकी टिकियाको रखकर ४८ घंटेमें तीन बार बदल कर बाँधें। इस बीच रोगीको आराम करना चाहिये। इस ४८ घंटेके उपचारके बाद रोग सदैवके लिये जाता रहेगा, विशेष जानकारीके लिये निम्नलिखित पतेपर पत्र-व्यवहार कर सकते हैं।

—विष्णुकुमार जिन्दल,
फ्लैट नं॰ ३, कटोरी मिल मार्केट,
पो॰-मोहननगर २०१००७ (गाजियाबाद)

मनन करने योग्य

धनकी अन्धपूजा

मेरे समीप एक पुष्प पड़ा है, साथ ही एक रुपया भी पड़ा है।

रुपया न जाय, इसके लिये मैं सावधानी रखता हूँ, पुष्पको कोई ले जाय तो मैं उसे ले जाने देता हूँ।

परंतु मेरे सामने एक महाप्रश्न आ खड़ा होता है।

'पसंद कर ले! जीवनभर तुझे एक ही वस्तु मिलेगी, पुष्प या रुपया।'

मैं क्या पसंद करूँगा?

पुष्प, रुपया नहीं। जिस जीवनमें बिना पुष्पका रुपयोंका ढेर सामने आनेवाला हो, उस जीवनमें सौरभ कहाँ?

आज एक रुपयेके चाहे दो सेर गुलाब मिलते हों, परंतु यह रुपया जिस दिन एक भी गुलाब न दिला सकेगा, उस दिन किसका मूल्य अधिक होगा?

गुलाबका ही। हम जरा सच्चा मूल्य आँकनेका प्रयत्न करें। मेरे पास धनका ढेर है। मैं रेतीके कछारमें चला जा रहा हूँ। मुझे प्यास लगती है। यह प्यास उग्र हो उठती है। पैसे-दो-पैसेमें सामान्यतः जलका एक घड़ा प्राप्त करनेवाला मैं दो रुपये, दो हजार रुपये, दो करोड़ या दो अरब रुपये देकर जलका एक प्याला प्राप्त करना चाहता हूँ।

पानीके प्यालेकी कीमत मेरे धनभण्डारसे बढ़ जाती है। यहाँ किसका मूल्य अधिक है? करोड़पति धनवान्का या पानीका प्याला प्राप्त करनेवाले किसी बनजारेका?

बंगाल या उड़ीसाके उपवासियोंसे पूछो—तुझे सेरभर चावल दूँ या सेरभर सोनेकी मुहरें? वह सेरभर क्या, मनभर

सोनेकी मोहरोंको ठोकर मारकर एक सेर चावल झड़प लेगा।

जीवनकी पहली जरूरत—अन्न, धन नहीं।

संतानरहित एक धनीने गाँवमें रहनेवाले एक सम्बन्धीके बालकको शहरमें अपने भव्य भवनमें बुलाया। झोंपड़ीमें रहनेवाला वह बालक बिना माँ-बापके महलमें झूरने लगा। झोंपड़ीपर वापस पहुँचा, तब उसके चेहरेपर प्रकाश दिखायी दिया।

महल झोंपड़ीसे ज्यादा बड़ा, अधिक मूल्यवान्, अधिक सुख-सुविधासे युक्त, पर उस बालकके लिये नहीं। बालकके मन उसकी झोंपड़ी ही अधिक प्रशस्त है, अधिक मूल्यवान् है और अधिक सुखप्रद है। सुख-सुविधाका मूल्य बालकके मन दूसरा ही है।

एक गायिका नवाबी दरबारके मुजरेमें गाकर हजारोंका इनाम पाती है, पर अजमेरकी दरगाहमें बिना इनाम मनसे गाती है। इन दोनों संगीतोंके भेदपर भी ध्यान दिया है? बिना इनामका संगीत ज्यादा बढ़िया होता है। कारण?

नवाबी दरबारमें संगीतका मूल्य है।

अजमेर-शरीफकी दरगाहके पासका संगीत अमूल्य है, इसीलिये वह बढ़िया है।

यों रुपयेसे पुष्प बढ़िया, पैसोंसे पानी बढ़िया, धनसे अन्न बढ़िया, महलसे झोंपड़ी बढ़िया और भाड़ेके संगीतकी अपेक्षा दिलका संगीत बढ़िया।

इतना होनेपर भी हमारा यह युग धन-पूजक बन गया है। धन-माल, सुख-साधन और सुविधाकी अदला-बदली करनेका बाट—अनाज, कपड़ा, मकानकी अदला-बदली करनेवाली तकड़ी, इस तकड़ीको—इस बाटको देवता बनाकर हमलोग बुतपरस्त हो गये हैं और इस झूठे देवताके पूजनमें सुख, सुविधा और संतोष—सब कुछ खो बैठे हैं।

छोटा-सा साधन हमारी सिद्धि बन गया है। जादूगर धनको फुलकेकी तरह फुलाते हैं और वह फुलका पानीके बुदबुदेकी तरह फूट जाता है।

यह धन विपुल बन गया है, सर्वत्र फिरनेवाला बन गया है—इतनेपर भी आज सर्वत्र दुर्भिक्ष फैल रहा है! जगत्की भूख मिट जाय, इतना अनाज होनेपर भी जगत् भूखों मरता है! धन-पूजाका यह एक परिणाम। चायके बगीचोंकी कथा सुनी है? धन-पूजनने धनको मानव-रुधिरसे रँग दिया है, बगीचोंको वह कसाईखाना बना रहा है।

सब सुखसे रह सकें—इतनी जमीन है, इतने मकान हैं, इतना सामान है, इतनेपर भी जगत्के असंख्य मनुष्योंके रहनेके लिये घर नहीं है, पहननेको वस्त्र नहीं है और खानेको दाना नहीं है। कारण यही कि धनका ढेर जमा करके उसपर धनी लोग नाग बनकर चढ़ बैठे हैं।

खादी पहनकर, असहयोगका नाम लेकर तालियाँ पिटवानेवाले अनेकों कथित देशसेवक—आज धन-पूजनमें युद्ध-पूजन कर रहे हैं। उनकी शरम सूख गयी है। अपने आस-पास हम उन्हें देख सकते हैं।

और इसी धन-भक्ति—अन्ध धन-भक्तिमें तेल, लोहा, रबड़ और कोयलेके ठेकेदार जगत्में महाभारत रचाकर करोड़ों मनुष्योंको तबाह कर रहे हैं।

जगत्को संस्कारी बनानेवाले स्मरणीय पुरुषोंमें भी कोई धनी था क्या? ईसामसीह—गरीब-से-गरीब यहूदी था।

बुद्ध—राज-पाट छोड़कर अपनी खुशीसे बना हुआ एक भिक्षु था।

मुहम्मद—उपवास करनेवाला एक फकीर था।

शंकर—सातवें वर्षमें ही संन्यास ग्रहण करनेवाला एक अकिंचन ब्राह्मण था।

धनकी अन्धपूजा धनको राक्षस बना देती है और धनकी सच्ची कीमत धनको लक्ष्मी बनाती है।

आज तो धन संहारका, संतापका, अश्रुओंका और असूयाका मूल झरना बन गया है। इसके आस-पास चन्द्रमाकी चाँदनी नहीं, अमावसकी कालिमा है। आजका धन शापित धन है।

आजका मेरा संकल्प है—

जो धन रुधिरसे सना हो, आँसुओंसे भींगा हो, असूयाकी कालिमासे कलुषित हो, जो सबके काममें न आनेवाला हो, उस धनका मुझे स्पर्श न मिले!

चाहे मैं भूखा होऊँ, घरविहीन होऊँ, वैभवहीन होऊँ, आजके इस काले धनसे धनी होनेकी अपेक्षा धनहीन उपवासी होनेमें अधिक गौरव है।

* ॐ श्रीपरमात्मने नमः *



हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

(संस्करण १,८०,०००)

विषय-सूची

कल्याण, वि० सं० २०४८, श्रीकृष्ण-संवत् ५२१७

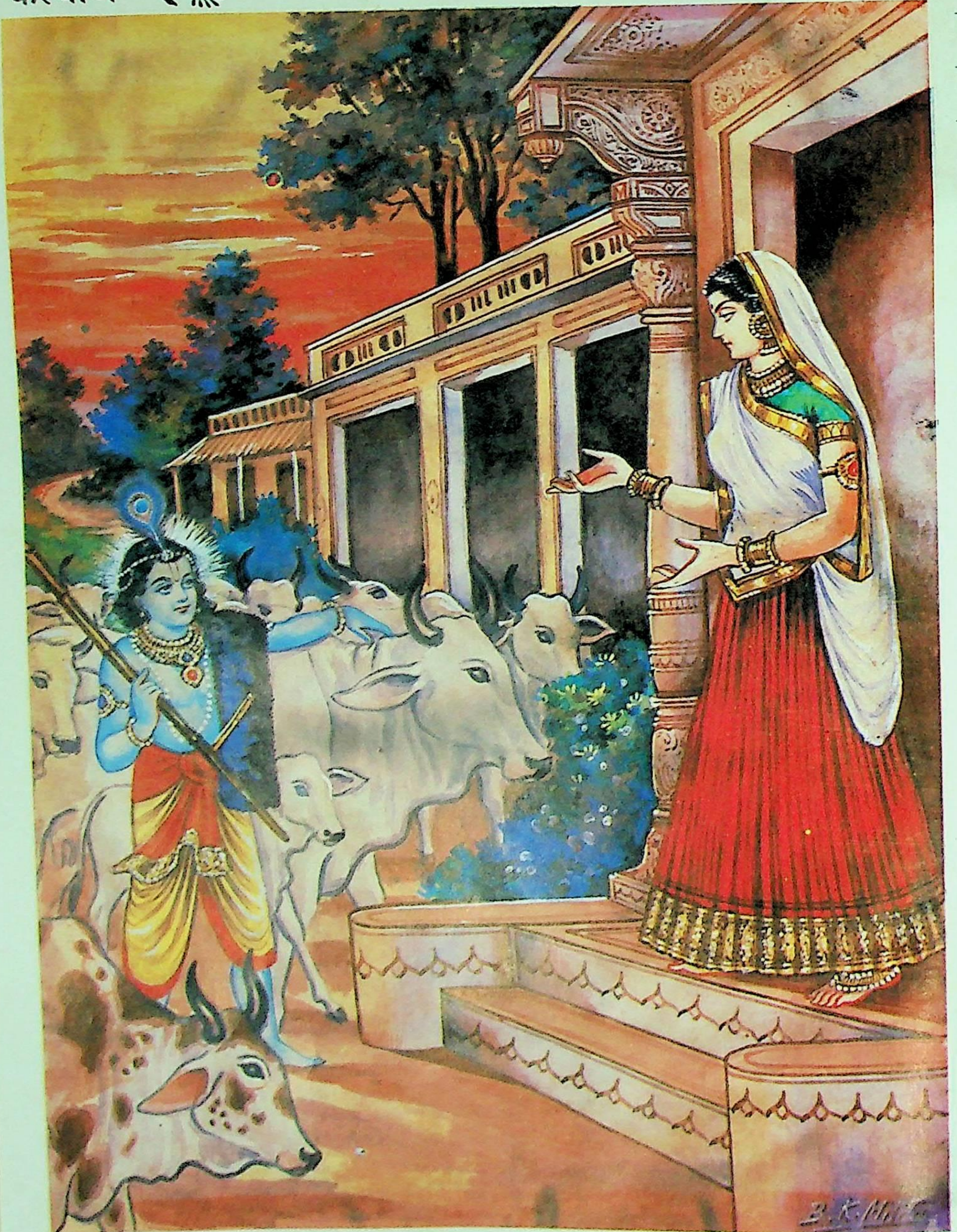
चित्र-सूची

प्रत्येक साधारण अङ्कका मूल्य भारतमें २.५० रु० विदेशमें २० पेंस

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट् जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते ॥

कल्याणका वार्षिक मूल्य (डाक-व्ययसहित) भारतमें ५५.००रु० विदेशमें ५ पौंड अथवा ८ डालर

संस्थापक—ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका
आदिसम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
सम्पादक—राधेश्याम खेमका
रामदास जालान द्वारा गोविन्दभवन-कार्यालयके लिये गीताप्रेस, गोरखपुरसे मुद्रित तथा प्रकाशित



मैया ! यातें भई अबेर

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥



कल्याण

विश्वस्य यः स्थितिलयोद्भवहेतुराद्यो योगेश्वरैरपि दुरत्ययथोगमायः।
क्षेमं विधास्यति स नो भगवांस्त्र्यधीशस्तत्रास्मदीयविमृशेन कियानिहार्थः॥

वर्ष ६५ | गोरखपुर, वि॰सं॰ २०४८, श्रीकृष्ण-सं॰ ५२१७ | संख्या १० | पूर्ण संख्या ७७९

देरके लिये सफाई

मैया! यातें भई अबेर।
आवत भाज गई एक गैया, जाय धँसी बन फेर॥
दौरे ग्वाल सब वाके पाछे, पकरन की कर आस।
चढ़ कदंब पीतांबर फेर्‌यो, आय गई मो पास॥
मैं चुचुकार पीठ कर फेर्‌यो, लहड़े लई लगाय।
बतियाँ सुनत रसिक प्रीतम की (मन) फूली जसमुति माय॥

कल्याण

याद रखो—किसीके दोषोंका बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन करके, उसके दोषोंकी बहुत कड़ी आलोचना करके, दोषोंके लिये जनसमूहमें उसे बदनाम करके यदि तुम यह आशा रखते हो कि तुम्हारे ऐसा करनेसे वह दोषमुक्त हो जायगा तो यह तुम्हारी बड़ी भूल है। प्रथम तो यही निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि तुम जो किसीमें जितने और जैसे दोषोंकी कल्पना करते हो, देखते हो, वे उसमें हैं या नहीं। हो सकता है तुम्हारी धारणा भ्रान्त हो, मत-विरोध होनेसे तुम्हें वैसा प्रतीत होता हो, भिन्न परिस्थितिके कारण तुम्हें वैसा दीखता हो अथवा द्वेषके कारण दोषबुद्धि हो जानेसे तुम्हें उसमें अपने ही दृष्टिदोषसे दोष दिखायी देते हों। यदि ऐसी बात है तब तो तुम उसकी निन्दा करके नया पाप कर रहे हो, उसके मनमें द्वेषका अङ्कुर पैदा करके उसके भावी जीवनको अशान्त बना रहे हो। इसलिये पहले अपने दोषोंको देखो, फिर किसी दूसरेके दोषोंकी ओर दृष्टि डालो। आलोचना, निन्दा तथा अपशब्दोंके द्वारा किसीका जी दुखानेसे तो सदा बचे ही रहो।

याद रखो—यदि किसी अंशमें किसीमें कोई दोष हो भी तो क्या तुम्हारेमें कोई दोष नहीं है? और उसकी कड़ी आलोचना या निन्दा करके अथवा उसके प्रति नीच शब्दोंका प्रयोग करके क्या तुम भी भयानक दोष नहीं कर रहे हो?

याद रखो—किसीके दोषोंका बखान करना, उसे दोषी सिद्ध करके लोगोंकी दृष्टिमें उसे गिरानेका प्रयत्न करना—उसके दोषोंको केवल दृढ़ करनेमें ही कारण नहीं होता, वरं उसके दोषोंके स्वरूपको और भी भीषण बनाने और दोषोंकी संख्या बढ़ानेमें भी कारण होता है। किसीको दोषी साबित करके उस दोषको सदाके लिये उसके पल्ले मत बाँध दो। उसको निर्दोष बनानेके लिये उसे अपनाकर, उससे प्रेमकर, उसके दुःखमें सच्ची सहानुभूति प्रकटकर और उसके थोड़ेसे भी सच्चे गुणोंकी सच्ची प्रशंसा करके ऐसी सुन्दर स्थिति उत्पन्न कर दो कि जिसमें वह तुमको अपना हितैषी—सुहृद् समझे और तुम्हारा प्रेमभरा संकेत पाते ही नाकसे बलगम छींक फेंकनेकी भाँति सहज ही अपने दोषको निकाल फेंके और उस स्थितिमें आराम—शान्तिका अनुभव तथा गौरव-बोध करे।

याद रखो—तुम यदि किसीकी कड़ी आलोचना करते हो, उसकी निन्दा करते हो और द्वेष-द्रोह तथा अपमानभरी कटु वाणीसे किसीको लाञ्छित करनेका प्रयत्न करते हो—और तुम्हारी इस दूषित वाणीको सुनकर सुननेवाले लोग प्रसन्न होते हैं, तालियाँ पीटकर अपनी प्रसन्नता प्रकट करते हैं, तुम्हारी प्रशंसा करते और तुम्हें वाहवाही देते हैं तो समझ लो कि तुमने जनताके मानस-स्तरको नीचे तो गिरा ही दिया है, साथ ही निर्दोष मनुष्योंके मानस-धरातलपर द्वेषकी धार बहाकर उन्हें दूषित कर रहे हो, सुन्दर-सरल-निर्मल मानस-क्षेत्रोंमें विष-बीजोंका वपन करके भयानक विषमय फल उपजाने जा रहे हो, लोगोंमें द्वेष-द्रोहका विस्तार कर उनमें वैर-विरोध और क्रोध-हिंसाका प्रचार-प्रसार कर रहे हो, जगत्में शत्रुभावका विषाक्त वातावरण उत्पन्न करके प्रकृतिमें भीषण विक्षोभ उत्पन्न कर रहे हो और परिणाममें जगत्के प्राणिसमुदायको नरकानलकी भीषण लपटोंमें जलानेका आयोजन कर रहे हो। सोचो, तुम अभिमानके मारे कितना बड़ा पाप कर रहे हो!

याद रखो—इससे तुम्हारा कभी कल्याण न होगा, चाहे तुम अज्ञानवश अपनेको कितना ही अधिक जग-कल्याणमें हेतु मानते रहो और तुम जिस जगत्का कल्याण करना चाहते हो, उसका भी कल्याण नहीं होगा। ऐसा करना तो मानो विष-बेलिका विस्तार करके उससे मधुर अमृत-फल चाहना है।

याद रखो—दोनों ओर खड़े हुए लोग बीचकी प्रबल जलधाराके भयसे नहीं मिल पाते—उनको मिलानेके लिये उस जलधारापर पुल बाँधनेवाले, बीचकी गहरी और चौड़ी दरारको भरकर सुन्दर मार्गका निर्माण करनेवाले और जैसे धागा अपना प्रिय अङ्ग देकर सूईके किये हुए छेदको भर देता है, वैसे ही अपना बलिदान करके दूसरोंके छिद्रोंको छिपा देनेवाले लोग ही प्रेमका यथार्थ विस्तार करके द्वेष-वैर और हिंसा-प्रतिहिंसाकी ज्वालासे जलते हुए जगत्को सुख-शान्तिकी सुधाधारासे आप्लावित कर उसका सच्चा हित कर सकते हैं और उनका अपना हित भी इसीमें भरा है।—'शिव'

घर-घरमें भगवान्‌की पूजा

(ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

'श्रीभगवान्‌ने साकाररूपसे साक्षात् प्रकट होकर कभी मुझे दर्शन दिये हैं'—इस बातके कहनेमें असमर्थ होनेपर भी मैं बड़े जोरके साथ यह विश्वास दिला सकता हूँ कि यदि कोई भगवत्परायण होकर निष्काम-प्रेमभावसे भगवान्‌की भक्ति करे तो उसे साक्षात् दर्शन देनेके लिये भगवान् निश्चय बाध्य हैं। उन्होंने स्वयं कहा है कि—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥

(गीता ११। ५४)

'हे अर्जुन! अनन्य भक्ति करके तो इस प्रकार साकार रूपसे मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये और तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ।'

इससे यह सिद्ध हुआ कि भगवान्‌का प्रत्यक्ष दर्शन अनन्य भक्तिसे हो सकता है। अनन्य भक्तिके लिये अभ्यासकी आवश्यकता है। यदि सब समय भगवान्‌के नामका जप और हृदयमें उनका स्मरण करते हुए संसारके समस्त व्यवहार उसीके अर्थ किये जायँ तो परमात्मामें अनन्य भक्ति हो जाती है। अनन्य भक्तियुक्त पुरुष स्वयं पवित्र होता है, इसमें तो कहना ही क्या है, परंतु वह अपने भक्तिके भावोंसे जगत्‌को पवित्र कर सकता है। यदि घरमें एक भी पुरुषको अनन्य-भक्तिसे परमात्माका साक्षात्कार हो जाय तो उसका समस्त कुल पवित्र समझा जाता है। कहा है—

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था
वसुन्धरा पुण्यवती च तेन।
अपारसंवित्सुखसागरेऽस्मिन्
लीनं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः॥

'जिसका चित्त अपार विज्ञानानन्दघन समुद्ररूप परब्रह्म परमात्मामें लीन हो गया है, उससे कुल पवित्र, माता कृतार्थ और पृथ्वी पुण्यवती होती है।'

भगवान् नारद कहते हैं—

कण्ठावरोधरोमाञ्चाश्रुभिः परस्परं लपमानाः पावयन्ति कुलानि पृथिवीं च। तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि सुकर्मीकुर्वन्ति कर्माणि सच्छास्त्रीकुर्वन्ति शास्त्राणि।

(नारदभक्तिसूत्र ६८-६९)

'ऐसे भक्त कण्ठावरोध, रोमाञ्चित और अश्रुयुक्त नेत्रवाले होकर परस्पर सम्भाषण करते हुए अपने कुलोंको और पृथ्वीको पवित्र करते हैं।' वे तीर्थोंको सुतीर्थ और कर्मोंको सुकर्म तथा शास्त्रोंको सत्-शास्त्र बनाते हैं।' उनकी भक्तिके आवेशसे वायुमण्डल शुद्ध होता है, उससे सम्बन्ध रखनेवाले सब कुल पवित्र हो जाते हैं और पृथ्वीपर ऐसे पुरुषोंके निवाससे पृथ्वी पवित्र हो जाती है। वे जिस तीर्थमें रहते हैं वही सुतीर्थ, वे जिन कर्मोंको करते हैं वे ही सत्कर्म और वे जिन शास्त्रोंका उपदेश करते हैं वे ही सत्-शास्त्र बन जाते हैं—

मोदन्ते पितरो नृत्यन्ति देवताः सनाथा चेयं भूर्भवति।

(नारदभक्तिसूत्र ७१)

'ऐसे भक्तोंको प्रकट हुए देखकर उनके पितृगण अपने उद्धारकी आशासे आह्लादित होते हैं, देवतागण उनके दर्शनकर नाचने लगते हैं, माता पृथ्वी अपनेको सनाथ समझने लगती है।'

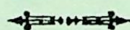
पद्मपुराणमें भी ऐसा ही वचन है—

आस्फोटयन्ति पितरौ नृत्यन्ति च पितामहाः।
मद्वंशे वैष्णवो जातः स नस्त्राता भविष्यति॥

पितृ-पितामहगण 'अपने वंशमें भगवद्भक्त प्रकट हुआ, वह हमारा उद्धार कर देगा'—ऐसा जानकर प्रसन्न होकर नाचने लगते हैं। और भी अनेक प्रमाण हैं। वास्तवमें ऐसे पुरुषका हृदय साक्षात् तीर्थ और उसका घर तीर्थरूप बन जाता है। अतएव सब भाइयोंको चाहिये कि वे परमात्माकी अनन्य भक्तिका साधन करें। इस साधनमें भगवान्‌के प्रति मन लगाना पड़ता है तथा अपना समय भगवत्सेवामें लगानेका अभ्यास करना पड़ता है। इसके लिये यदि प्रत्येक घरमें एक-एक भगवान्‌की मूर्ति या चित्र रहे—मूर्ति या चित्र वही हो जो अपने मनको रुचता हो और नित्य नियमपूर्वक उसकी पूजा की जाय तो समय और मन दोनोंको ही परमात्मामें लगानेका अभ्यास अनायास हो सकता है।

भगवान्‌के अनेक मन्दिर हैं, मन्दिरोंमें जाना बड़ा उत्तम है, परंतु एक तो सभी स्थानोंमें मन्दिर मिलते नहीं। दूसरे सभी जाकर अपनी इच्छाके अनुसार अपने हाथों सेवा-पूजा नहीं कर सकते। तीसरे सब मन्दिरोंकी व्यवस्था आजकल प्रायः ठीक नहीं रही, चौथे घरके सब स्त्री-पुरुष, बालक-वृद्ध मन्दिरोंमें नियमितरूपसे जा भी नहीं सकते। परंतु घरमें किसी धातुकी, पाषाण आदिकी भगवान्‌की कोई मूर्ति या चित्र सभी रख सकते हैं और उसकी पूजा अपने-अपने मतके अनुसार या प्रेम भक्ति-प्रकाशमें बतलायी हुई विधिके अनुसार स्त्री-पुरुष सभी कर सकते हैं। घरमें नित्य भगवान्‌की पूजा होनेसे उसके लिये पूजाकी सामग्री जुटाने, पुष्पकी माला गूँथने आदिमें बहुत-सा समय एक तरहसे भगवच्चिन्तनमें लग जाता है। बालकोंको भी इसमें बड़ा आनन्द मिलता है, वे भी इसको सीख जाते हैं। लड़कपनसे ही उनके हृदयमें भगवत्सम्बन्धी संस्कार जमने लगते हैं। व्यर्थके खेल-कूदकी बात भूलकर उनका चित्त इसी सत्कार्यमें प्रमुदित होने लगता है। छोटी उम्रके संस्कार आगे चलकर बड़ा काम देते हैं। भक्तिमती मीराबाई आदिमें इस लड़कपनके मूर्ति-पूजाके संस्कारसे ही बड़ी उम्रमें भक्तिका विकास हुआ था। जिन लोगोंने अपने घरोंमें इस कार्यका आरम्भ कर दिया है, उनकी भगवान्‌में श्रद्धा-भक्ति और प्रेम उत्तरोत्तर बढ़ रहा है।

अतएव मैं सब भाइयोंसे, वेद-शास्त्र और पुराणादि न माननेवाले भाइयोंसे भी विनीत भावसे यह प्रार्थना करता हूँ कि यदि वे समझें तो अपने-अपने घरोंमें इस कामको तुरंत आरम्भ कर दें। भगवान्‌की पूजाके साथ ही घरके सब पुरुष-स्त्रियाँ और बालक मिलकर भगवान्‌का नाम लें। भगवान्‌की पूजा चाहे एक ही व्यक्ति करे, पर पूजाका अधिकार सबको हो। स्वामी न हो तो स्त्री पूजा कर ले, स्त्री न कर सके तो पुरुष कर ले। सारांश यह है कि भगवत्पूजनमें नित्य कुछ-कुछ समय अवश्य लगता रहे। इससे घरभरमें श्रद्धा-भक्तिका विकास हो सकता है। जो लोग कर सकें वे बाह्यपूजाके साथ ही अपने-अपने सिद्धान्तके अनुसार या 'प्रेमभक्ति-प्रकाश'* के अनुसार भगवान्‌की मानसिक पूजा भी करें, क्योंकि आन्तरिक पूजाका महत्त्व और भी अधिक है। एक बार मेरी इस प्रार्थनापर ध्यान देकर इस पूजन-भक्तिका आरम्भ कर इसका फल तो देखें। इससे अधिक विश्वास दिलानेका मेरे पास और कोई साधन नहीं है।



बाल-प्रार्थना

(श्रीबालकृष्णजी गर्ग)

परमपिता ! हम बच्चोंको तुम ज्ञान दो
प्रगति करें जीवनमें, वह विज्ञान दो।
करें काम अच्छे, हम बचें बुराईसे,
दीनबन्धु ! हमको ऐसा वरदान दो॥

हे करुणामय ! हमको अपनी भक्ति दो,
निज पदपद्मोंमें अनन्य अनुरक्ति दो।
हम प्रह्लाद और ध्रुव-जैसे भक्त बनें,
अनुपम-अतुलित भगवन् ! अपनी शक्ति दो॥

कृपासिन्धु ! हम बच्चे बहुगुणवान् हों,
भावी जन-जीवनमें व्यक्ति महान् हों।
बुद्ध, विवेकानन्द, तिलक, गाँधी-जैसे—
देशभक्त, त्यागी, ज्ञानी, विद्वान् हों॥

जगदीश्वर ! जीवनमें हम निष्पाप हों,
रहे सदा सुख-शान्ति, न तीनों ताप हों।
द्वेष, दम्भ, हिंसा, असत्यसे दूर रहें,
एकमात्र बस, लक्ष्य हमारे आप हों॥

* यह पुस्तक गीताप्रेससे प्रकाशित है।

सत्पथकी ओर

(स्वामी श्रीवेदान्तीजी महाराज)

सम्पूर्ण संसारमें समस्त प्राणिमात्र सर्वदा-सर्वथा सुखकी गवेषणा करता है। मनुष्य जितना सुख भोगता है उससे और अधिक भोगना चाहता है। वह सबसे सुख चाहता है, सब दिन सुख चाहता है और सब प्रकारका सुख चाहता है। किसीसे दुःख नहीं चाहता, कभी भी दुःख नहीं चाहता और किसी भी प्रकारका दुःख नहीं चाहता।

जीवन-यात्रामें सुखाभिलाषी व्यक्ति प्रिय-वियोग, अप्रिय-संयोगसे जायमान अनेक शोक-संताप, हृदय-परिताप, मोहके अनेकों प्रसंग, शरीर एवं मनका अस्वास्थ्य आदि दुःखोंसे कभी भी बच नहीं सकता। तात्कालिक क्षणिक सुखकी प्राप्ति और दुःखकी निवृत्तिसे मनुष्यके संतुष्ट हो जानेसे ऐकान्तिक और आत्यन्तिक दुःखकी निवृत्तिके साधनकी वह जिज्ञासा नहीं कर पाता।

आपातरमणीय सुख मधुकी छोटी-सी कणिकाके वास्ते आगमापायी विषयोंमें मुग्ध होकर वह उन विषयोंकी प्राप्तिके लिये अनेक कष्ट उठाता है और महान्-से-महान् अनर्थ करनेमें थोड़ा-सा भी संकोच नहीं करता। परिणाममें भले ही लोक-परलोकमें अनेक दुःख भोगना पड़े, किंतु पूर्वजन्मकी वासना बलवती होनेसे उसे विषयोंकी ओर जबरन् घसीट ले जाती है। विषयेन्द्रिय-संयोगजन्य परिणाम विरस, क्षणिक एवं हृदय-विदारक होता है।

प्राणियोंकी प्रायः सुखमें आसक्ति होती है—

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभू-
स्तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्॥

(कठ० २। १। १)

ब्रह्माने इन्द्रियोंको बहिर्मुख बनाया, अतएव इन्द्रियाँ विषयोंको ही देखती हैं अन्तरात्माको नहीं। मनुष्यकी विषयोंमें प्रवृत्ति नैसर्गिकी होती है, इसी आसक्तिको राग कहते हैं। इष्ट-प्राप्तिमें जो बाधक होता है, उसके प्रति व्यक्तिका द्वेष भी नैसर्गिक होता है। इसी राग-द्वेषसे प्रेरित होकर व्यक्ति पाप-पुण्यकी प्रवृत्तिमें फँसकर शोक-संताप, जन्म-जरा-बन्ध-मरणादि अनेकानेक दुःख-परम्परामें गिर पड़ता है। यद्यपि विषयोंमें सुख है ही नहीं, क्योंकि यह संसार विषय-विषसे परिपूर्ण दुःखालय और अशाश्वत है।

विषय-भोगकी कामना ही परम सुखकी प्राप्तिमें बाधक है, इससे शान्ति उससे बहुत दूर हो जाती है—'**स शान्तिमाप्नोति न कामकामी**॥' (गीता २। ७०) आनन्द तो परमात्माका स्वरूप है, संसार अनित्य और असुख है।

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥

(गीता ९। ३३)

जैसे मरु-मरीचिकामें जल अविद्यमान है तो भी भ्रान्त हरिणको प्रतीयमान भी है, वैसे ही संसारमें सुख अविद्यमान है तो भी भ्रान्त व्यक्तिके लिये प्रतीयमान है। अविद्यमान जो प्रतीयमान सुख है, उसकी अभिलाषा ही दुःखका कारण है। सुख तो अपना आप है, अतः वह परम सुख है, नित्य है, शाश्वत है और नित्य-प्राप्त भी है।

दुःखालय—विषयोंमें सुख-प्रतीतिका मूल कारण अविवेक है। इसे ही मूल अविद्या भी कहते हैं, जो अनादि है—

'अनादिरविवेकोऽयं मूलाविद्येति कथ्यते।'

उस अनादि अविद्याकी निवृत्ति सुतरां हो जाती है—

'अविद्यायां निवृत्तायां तत्कार्यं विनिवर्तते।'

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥

(गीता ८। १५)

ज्ञान, कर्म और भक्ति किसी मार्गका अवलम्बन करें तो राग-द्वेषकी निवृत्ति हो जाती है। राग और द्वेष—ये दोनों ही व्यक्तिको संसारकी ओर ढकेलते हैं। राग, द्वेष और मोहरूपी जो उपद्रव है वह ध्यान देने योग्य है।

अन्तःकरणगत रागमें तो हम पक्षपात करते हैं, सत्यसे हट जाते हैं। अन्तःकरणगत द्वेषके आनेपर हृदयमें जलन होती है, जलाना अग्निका स्वभाव है, अग्नि जिस लकड़ीमें लगती है उसे पहले जलाती है और दूसरी लकड़ीको बादमें। द्वेष भी आगके समान है, ज्वलनात्मक चित्तवृत्ति जहाँ उत्पन्न होती है, उसीको पहले जलाती है।

मोहके आनेपर बुद्धि सम्मूढ़ हो जाती है, द्वेषके आनेपर

शत्रुको जलानेके लिये जागती है। रागके आनेपर इष्टको सुख पहुँचानेके लिये जागती है, परंतु मोह आनेपर बिलकुल ही प्रसुप्त हो जाती है। राग-द्वेषसे यथार्थ सुख बहुत ही दूर भाग जाता है। रागमें हम अटक जाते हैं। रागके कारण बुद्धिमें पराधीनता आ जाती है—

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परंतप॥

(गीता ७। २७)

इच्छासे राग, रागसे द्वेष और द्वेषसे मोह होता है। इच्छित पदार्थोंमें सत्यत्व—रमणीयत्व और सुखत्व-बुद्धि होती है। जगत्‌की नश्वरताके ज्ञानसे सत्यत्व-बुद्धिकी निवृत्ति होती है और दुःख-रूपत्वके ज्ञानसे सुखत्व-बुद्धिकी निवृत्ति होती है। विषय आने-जानेवाले हैं, चाहे उनका भोग कितने समयतक क्यों न किया जाय। जो वस्तु छूटनेवाली है, उसमें हम राग ही क्यों करें? क्योंकि विषय-सुख तो छूट जायगा, किंतु उसकी आसक्ति बनी रहेगी, उसको चाहते रहेंगे, लेकिन वह खिसक जायगा। यदि हम विषयोंकी इच्छाका त्याग नहीं करते और विषय खिसक गये तो मनको भीषण परिताप होगा, यदि विषयोंकी इच्छाका त्याग कर देते हैं तो हमारा त्याग ही हमें सुख-शान्ति देगा। जहाँ बन्धनका अनुभव होता है, वहाँ दुःखका अनुभव होता है, वहाँ विनाश या मृत्यु दिखायी पड़ती है—उसके त्यागकी शक्ति यदि हमारेमें है तो वे वस्तु बन्धनकारक या दुःखकर नहीं होते।

क्षणपरिणामिनो हि भावा ऋते चितिशक्तेः॥

सभी अनात्म-पदार्थ क्षण-क्षणमें बदलते हैं, उनमें स्थायित्व नहीं है, केवल परमात्मा अनन्त सत्य है, अपरिणामी है, वही सनातन ब्रह्म है। जहाँ विनाश है, जड़ता है, दुःख है, वहाँसे अपनेको असङ्ग रखना है, सत्स्वरूपमें स्थित होना है। यदि मनुष्य-जीवन प्राप्त करके हमने परम सत्—परमात्माको नहीं पहचाना तो हम अविद्यारूपी अन्धकारमें भटकते रहेंगे। अनात्मामें आत्मबुद्धि, दुःखमें सुख-बुद्धिका होना ही अविद्या है। हम मिथ्या नाम-रूपमें अभिमान धारण करके राग-द्वेषमें फँस गये हैं। यदि सत्यको नहीं जान सके, तो मिथ्या पदार्थमें ही हमारा सम्पूर्ण जीवन व्यतीत हुआ, अतः यह जानना ही परम पुरुषार्थ है।

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥

(श्रीमद्भा० १। २। ११)

जो अद्वय ज्ञान है, तत्त्ववेत्ता लोग उसे सत्य कहते हैं। उस अद्वय ज्ञान सत्यको ही ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् कहते हैं। यह सत्य तत्त्व नाम-रूपके आरोपसे रहित है। वह सर्वाधिष्ठान सर्वरूप एवं सर्वातीत है। उस सत्य-तत्त्वके ज्ञानसे दुःखोंकी आत्यन्तिक ऐकान्तिक निवृत्ति होती है, वह परमानन्दस्वरूप नित्य-प्राप्त है।

'अर्थ' नामक 'अनर्थ'

यशो यशस्विनां शुद्धं श्लाघ्या ये गुणिनां गुणाः। लोभः स्वल्पोऽपि तान् हन्ति श्वित्रो रूपमिवेप्सितम्॥
अर्थस्य साधने सिद्धे उत्कर्षे रक्षणे व्यये। नाशोपभोग आयासस्त्रासश्चिन्ता भ्रमो नृणाम्॥
स्तेयं हिंसानृतं दम्भः कामः क्रोधः स्मयो मदः। भेदो वैरमविश्वासः संस्पर्धा व्यसनानि च॥
एते पञ्चदशानर्था ह्यर्थमूला मता नृणाम्। तस्मादनर्थमर्थाख्यं श्रेयोऽर्थी दूरतस्त्यजेत्॥

(श्रीमद्भागवत ११। २३। १६—१९)

जैसे थोड़ा-सा कोढ़ सुन्दर रूपको बिगाड़ देता है, वैसे ही तनिक-सा भी लोभ यशस्वियोंके शुद्ध यश और गुणवानोंके प्रशंसनीय गुणोंको नष्ट कर देता है। धन कमानेमें, कमा लेनेपर धनको बढ़ानेमें, धनकी रक्षा करनेमें, धनके खर्चमें, धनके नाशमें और धनके उपभोगमें—सर्वत्र परिश्रम, भय, चिन्ता और चित्तके भ्रमका ही भोग करना पड़ता है। चोरी, हिंसा, असत्य-भाषण, दम्भ, काम, क्रोध, गर्व, अहंकार, भेदबुद्धि, वैर, अविश्वास, स्पर्धा, लंपटता, जूआ और शराब—ये पंद्रह अनर्थ मनुष्योंमें धनके कारण ही उत्पन्न होते और रहते हैं। अतएव कल्याण चाहनेवाले पुरुषको चाहिये कि वह स्वार्थ और पर[illegible]

भोगवाद और आत्मवाद

(नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

भारतीय संस्कृतिका लक्ष्य है आत्मसाक्षात्कार या भगवत्प्राप्ति और आजके जगत्का लक्ष्य है भोगप्राप्ति। इसीसे भारतीय सिद्धान्त है आत्मवाद या ईश्वरवाद और आजके जगत्का सिद्धान्त है भोगवाद। भगवान्ने गीतामें सर्वथा पतन या सर्वनाशका कारण बतलाया है भोगचिन्तन या विषय-चिन्तनको। भगवान् कहते हैं—

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद् भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥

(गीता २। ६२-६३)

'भोगोंके—विषयोंके चिन्तनसे उन विषयोंमें आसक्ति उत्पन्न होती है, आसक्तिसे [उनको प्राप्त करनेकी] कामना पैदा होती है। कामना [सफल होनेपर लोभ और] की विफलतामें, कामपर चोट लगनेपर क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध [या लोभ] से सम्मोह होता है—पूरी मूढ़ता छा जाती है। मूढ़तासे स्मृति भ्रमित हो जाती है। स्मृतिभ्रंश होनेपर बुद्धि मारी जाती है और बुद्धिके नाशसे सर्वनाश होता है।'

ये सर्वनाशके आठ स्तर हैं। इनमें सबसे पहला है विषयोंका—भोगोंका चिन्तन। इसीसे अन्तमें बुद्धिनाश होकर सर्वनाश होता है। भोग जिसके जीवनका लक्ष्य होगा, भोगवाद ही जिसका सिद्धान्त होगा—वह व्यक्ति हो, चाहे व्यक्तियोंका समुदाय समाज हो, समाजोंसे भरा देश हो, देशोंका समूह राष्ट्र हो या राष्ट्रोंका समुदाय विश्व हो—जहाँ भोगवाद है, वहाँ भोगचिन्तन है और जहाँ भोगचिन्तन है, वहीं परिणाममें सर्वनाश है। भगवान्ने भोगजनित सुखको पहले मधुर लगनेवाला परंतु परिणाममें विषके सदृश बतलाया है। वे कहते हैं—

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥

(गीता १८। ३८)

'विषयोंके साथ इन्द्रियोंका संयोग होनेपर जो पहले अमृतके समान [सुख] देता है, परंतु जो परिणाममें विषके तुल्य [कार्य करता] है, वह सुख राजस कहलाता है।

एक जगह भोग-सुखको भगवान्ने दुःखोंकी उत्पत्तिका स्थान—दुःख-रूप फलका खेत बतलाया है।

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥

(गीता ५। २२)

'इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न जो सब भोग हैं, वे निःसंदेह दुःखके उत्पत्ति-स्थान हैं तथा आदि-अन्तवाले अनित्य हैं, भैया अर्जुन! बुद्धिमान् पुरुष उनमें प्रीति नहीं करता।'

अवश्य ही भारतीय संस्कृतिमें भोगका बहिष्कार नहीं है—अर्थ और कामका तिरस्कार नहीं है, परंतु वे जीवनके लक्ष्य नहीं हैं। भोग रहें पर रहें धर्मके नियन्त्रणमें और उनका लक्ष्य हो मोक्ष या भगवत्प्राप्ति। पुरुषार्थचतुष्टयमें इसीलिये अर्थ-धर्म-काम-मोक्ष चारोंको स्थान है। धर्मनियन्त्रित अर्थ-काम भगवत्सेवामें नियुक्त होकर मोक्षकी प्राप्तिके साधन बनते हैं और वे ही 'अर्थ-काम' जीवनके लक्ष्य बनकर मनुष्यको घोर अशान्ति तथा चिन्तामय जीवन बितानेको बाध्य करके अन्तमें नरकोंकी यन्त्रणामें पहुँचा देते हैं। श्रीमद्भागवतमें कहा है—'अर्थ' और 'काम'में फँसे लोग कुत्ते और बंदरोंके समान हो जाते हैं (१। १८। ४५)। धन—लक्ष्मी रहे, वह परम मङ्गलमयी है, पर वह तभी मङ्गलमयी है, जब सर्वव्यापी—प्राणिमात्रके रूपमें अभिव्यक्त भगवान् विष्णुकी सेविका होकर रहती है। नहीं तो, उसे अपनी भोग्या बनाकर तो मनुष्य महापाप करता है, जिससे उसका निश्चित पतन होता है।

हमारे इस 'धर्म'से किसी वादका लक्ष्य नहीं है या केवल अध्यात्म-विचार ही धर्म नहीं है। धर्म उस निष्ठा, विचार और क्रियापद्धतिका नाम है जो सबको धारण करता है। जिससे मनुष्यका सात्त्विक उत्थान हो, जो प्राणिमात्रका हित तथा सुखका साधन हो तथा अन्तमें निःश्रेयस या मोक्षकी प्राप्ति करानेवाला हो, वही धर्म है।

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

(वैशेषिक १। २)

श्रीवाल्मीकीय रामायणमें भगवान् श्रीरामजी लक्ष्मणजीसे कहते हैं—

धर्मार्थकामाः खलु जीवलोके
समीक्षिता धर्मफलोदयेषु।
ये तत्र सर्वे स्युरसंशयं मे
भार्येव वश्याभिमता सपुत्रा॥
यस्मिंस्तु सर्वे स्युरसंनिविष्टा
धर्मो यतः स्यात् तदुपक्रमेत।
द्वेष्यो भवत्यर्थपरो हि लोके
कामात्मता खल्वपि न प्रशस्ता॥

(अयोध्याकाण्ड २१।५७-५८)

'धर्मके फलस्वरूप सुख-सौभाग्यादिकी प्राप्तिमें जो धर्म, अर्थ और काम देखे जाते हैं, वे तीनों एक धर्ममें वर्तमान हैं। धर्मके अनुष्ठानसे ही तीनोंकी सिद्धि होती है, इसमें संदेह नहीं है। वैसे ही जैसे पतिके अधीन रहनेवाली भार्या अतिथि-पूजनादि धर्ममें, मनोऽनुकूल होनेसे काममें और सुपुत्रवती होकर अर्थमें सहायिका होती है। जिस कर्ममें धर्म, अर्थ, काम—तीनों संनिविष्ट न हों, परंतु जिससे धर्मकी सिद्धि होती हो, वही कर्म करना चाहिये। जो केवल अर्थपरायण होता है, वह लोकमें सबके द्वेषका पात्र बन जाता है और धर्मविरुद्ध कामभोगमें आसक्त होना भी प्रशंसा नहीं, निन्दाकी बात है।'

भोगवादी इस धर्मकी परवा नहीं करता। उसका निश्चित सिद्धान्त ही होता है कामोपभोग—

कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः॥

(गीता १६।११)

विषयभोगोंमें लगे मनुष्य बस, यही सब कुछ है—ऐसा निश्चितरूपसे मानते हैं।

यह आसुरी सम्पदावाले असुर-मानवका निश्चित सिद्धान्त है।

भोगवाद ही आसुरी सम्पदा है या आसुरी सम्पत्ति ही भोगवाद है।

भोगवादी या असुर-मानव धर्मको नहीं मानता, वह भगवान्का भजन तो करता ही नहीं। भगवान्ने उसके लिये कहा है—

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥

(गीता ७।१५)

'आसुरी भावका समाश्रयण किये हुए मायाके द्वारा अपहृत ज्ञानवाले, दूषित कर्म करनेवाले नराधम मूढ़ मुझको (भगवान्को) भजते ही नहीं।' भगवान्को नहीं भजते, भोगमें ही लगे रहते हैं, इसीसे वे नराधम तथा मूढ़ हैं।

ऐसे भोगवादी असुर-मानवको जीवनमें मिलते हैं—चिन्ता, अशान्ति, कामनाजनित पाप तथा मृत्युके बाद नरकोंकी प्राप्ति और बन्धन। यथा—

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।

(गीता १६।११)

मृत्युके अन्तिम क्षणतक अपरिमित चिन्ताओंसे घिरे रहते हैं।

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।

(गीता १६।१६)

मोहजालसे समावृत अनेक प्रकारसे भ्रमित-चित्त [अशान्त] रहते हैं।

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥

(गीता ३।३७)

(श्रीभगवान्ने कहा—) रजोगुण [विषयासक्ति] से उत्पन्न यह काम ही [चोट खाकर] क्रोध बन जाता है। यह काम कभी तृप्त न होनेवाला महापापी है। [मनुष्यके द्वारा होनेवाले पापोंमें] यह काम ही वैरीका काम करता है—इसीसे पाप होते हैं, ऐसा समझो।

प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ॥

(गीता १६।१६)

विषयभोगोंमें अत्यन्त आसक्त लोग अपवित्र नरकोंमें पड़ते हैं।

दैवीसम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता॥

(गीता १६।५)

दैवी सम्पदासे मोक्ष मिलता है और आसुरीसे बन्धन। यही मत है। भोगवादी असुर-मानवका 'काम-क्रोध-परायण' होना अनिवार्य है।

भोगवादका विष हमारी भारतीय संस्कृतिमें नहीं था, यह पाश्चात्त्य जगत्‌से यहाँ आया है और अब तो समस्त विश्वमें इतने भयानक रूपमें इसका प्रसार हो रहा है कि दिन-रात सर्वत्र सभी क्षेत्रोंमें भोगचिन्तन ही मनुष्यका स्वभाव-सा बन गया है और यह निश्चित है कि भोग-चिन्तनका परिणाम बुद्धिनाशके द्वारा सर्वनाश होता है। भोगवादका ही यह विषमय परिणाम है कि आज भारतमें भी पाश्चात्त्य जगत्‌की भाँति प्रायः (सभी वाद चाहे वह कम्यूनिज्म हो, कैपिटेलिज्म हो, सोशलिज्म हो या कोई भी 'साम्प्रदायिक' कहा जानेवाला वाद हो,) सभी भोगदृष्टिसे ही अपने कर्तव्यका विचार करते हैं। इसीसे सर्वत्र दलबंदी, कलह, द्वन्द्व, एक-दूसरेको गिरानेकी चेष्टा, एक ही धर्म-मतमें परस्पर निन्दा तथा पतनकी चेष्टा आदि हो रही है। यह धर्मरहित राजनीतिका अवश्यम्भावी परिणाम है। हमारे यहाँ मनुमहाराजने राजाको शिकार, द्यूत, दिवानिद्रा, परदोषकथन, स्त्रीसहवास, मद्यपान, नाच, गान, व्यर्थ भ्रमण—इन काम-जनित दोषोंसे तथा चुगली, अनुचित साहस, द्रोह, ईर्ष्या, दूसरेके गुणोंमें दोषारोपण, द्रव्यहरण, गाली, कठोरता—इन क्रोधजनित आठ दोषोंसे बचनेके लिये कहा है। पर आज यही सब दोष जीवनके आवश्यक अङ्ग या स्वभाव-से बन गये हैं। हमारे प्रतिदिनके राजनीतिक जीवनमें भी ये दोष अङ्गस्वरूप ही बन गये हैं। ऐसा होना भोगवादी असुर-मानवके लिये अनिवार्य है, क्योंकि वह तो इन्हींको गुण मानता है।

यह चीज केवल धर्महीन राजनीतिक क्षेत्रमें ही नहीं है, भोगवादीके द्वारा केवल भोगप्राप्तिके लिये स्वीकृत कोई भी जीवननिर्वाहकी या लौकिक उत्थान-अभ्युदय अथवा प्रगतिकी पद्धति भोगचिन्तन तथा अन्तमें बुद्धिनाशके द्वारा सर्वनाश करानेवाली होती है। इसी कारण आज हमारे सामाजिक, व्यापारिक, धार्मिक, नैतिक—सभी क्षेत्रोंमें बड़ी तेजीके साथ दैवीसम्पत्तिका ह्रास तथा आसुरीका विकास हो रहा है। जो अन्तमें महान् विनाश या घोर पतनका कारण होगा।

भोगवादी असुर-मानव क्या सोचता-करता है तथा उसका परिणाम क्या होता है, इसपर भगवान् कहते हैं—

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी॥
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः॥
तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥

(गीता १६। १३—१५, १८—२०)

'मैंने आज यह कमाया है, इस मनोरथको भी मैं अवश्य प्राप्त करूँगा। मेरे पास यह इतना धन तो है, फिर और भी मिलेगा। (मेरे काममें बाधा देनेवाला) वह शत्रु तो मेरे द्वारा समाप्त कर दिया गया है, जो दूसरे और हैं उनको भी मैं मार डालूँगा। मैं शासक ईश्वर हूँ, मैं ऐश्वर्यका भोगी हूँ, मैं सफल-जीवन हूँ, मैं बलवान् और सुखी हूँ। मैं बड़ा धनवान् हूँ, मैं अभिजनवान्—जनताका नेता हूँ, मेरे समान दूसरा है कौन? मैं (बड़े-बड़े) यज्ञ—सेवाके कार्य करूँगा, मैं बड़े-बड़े दान दूँगा और मेरे मोदका पार नहीं रहेगा। इस प्रकार अज्ञानसे मोहित वे असुर-मानव मनोरथ किया करते तथा डींग हाँका करते हैं।'

'इस प्रकार जो अहङ्कार, बल, घमण्ड, काम और क्रोधके आश्रित, गुणियोंमें भी दोषारोपण करनेवाले तथा दूसरोंके शरीरोंमें स्थित मुझसे (भगवान्‌से) बड़ा द्वेष करते हैं, उन द्वेष करनेवाले, अशुभकर्ता, निर्दय, नराधमोंको मैं (भगवान्) संसारमें बार-बार आसुरी योनियोंमें ही पटकता हूँ। भैया अर्जुन! वे मूढ़ पुरुष मुझको (भगवान्‌को) न पाकर जन्म-जन्ममें (बार-बार) आसुरी योनिको प्राप्त होते हैं, तदनन्तर और भी अधम गति (नरकादि) में जाते हैं।'

आजके युगके भोगवादी मानवका यह प्रत्यक्ष चित्र है। सारा विश्व ही आज इन आसुरी भावोंका समाश्रयण किये हुए अपने विनाशका पथ प्रशस्त कर रहा है। सभी भोग-चिन्तनपरायण हैं, कोई मान-यशकी कामना करता है तो कोई अधिकार-सत्ताकी, तो कोई धन-वैभवकी—इसीसे सभी ओर

छीना-झपटी हो रही है।

भारतीय संस्कृतिका जो कर्तव्य तथा त्यागका उज्ज्वल आदर्श था, उसकी जगह आज अधिकार तथा भोगने ले ली है। सभी लोग अधिकार और अर्थ या भोगके पीछे उन्मत्त हैं। कर्तव्य तथा त्याग होनेपर उचित अधिकार तथा अर्थ-भोग अपने-आप आते हैं। राम और भरतका इतिहास इसका साक्षी है। कर्तव्य तथा त्यागके कारण दोनोंके अधिकार कायम रहे—दोनों ही उचित अर्थके भागी हुए।

हमारा आदर्श ही था कर्तव्यमय त्याग। अमृतत्वकी प्राप्ति त्यागसे ही होती है। उपनिषद्‌की वाणी है—

न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः ॥

कर्मसे नहीं, प्रजासे नहीं, धनसे नहीं, एक त्यागसे ही कोई अमृतत्वको प्राप्त होते हैं—इसीसे वेदका उपदेश है—

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किं च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥

(शुक्लयजुर्वेद ४० । १, ईशा० १)

'अखिल विश्वमें जो कुछ भी जड-चेतन जगत् है, वह सब ईश्वरसे व्याप्त है। उस ईश्वरको साथ रखते हुए त्यागपूर्वक भोगते रहो। इसमें आसक्त मत होओ। किसीके भी धनकी इच्छा न करो।'

आज यह बात उपहासकी-सी वस्तु बन गयी है। आज तो प्रत्येक वस्तुका मूल्याङ्कन होता है—आर्थिक या भोग-दृष्टिसे ही। आत्माका प्रकाश करनेवाली शिक्षा भी आज भोगदृष्टिसे ही होती है। प्रत्येक वस्तुपर इसी दृष्टिसे विचार किया जाता है कि इसमें आर्थिक लाभ है या नहीं ? यह सब भोगवादके विषका ही विषैला प्रभाव है।

भोगवादके विषसे आक्रान्त होनेके कारण ही आज भारतके बड़े-बड़े अध्यात्मवादी विद्वान् भी, पाश्चात्त्य भोगवादी विद्वान् बुरा न बता दें, इसके लिये अपनी संस्कृतिके परम्परागत सम्मान्य सिद्धान्तोंको तथा इतिहासोंको भी यथार्थ रूपमें प्रकाश करनेमें हिचकते हैं और उन्हें विकृत करके उनके मतानुकूल बतानेका प्रयत्न करते हैं। यह मस्तिष्कका दासत्व बड़ा ही शोचनीय तथा घातक है। इसीसे हमारे प्राचीन इतिहास तथा ऐतिहासिक घटनाओंके काल बदलनेकी और सबको तीन हजार वर्षके अंदर लानेकी चेष्टा की जा रही है और दुःखका विषय है कि हमारे विद्वान् इन बातोंको स्वीकार करते चले जा रहे हैं। किसी भी व्यक्ति या राष्ट्रको यदि गिराना हो तो उसका प्रधान साधन है—उसके आत्मगौरव तथा आत्म-विश्वासको मिटा देना—उसके अपनेमें हीनताका बोध करा देना। यह काम पाश्चात्त्य विद्वानोंने सफलतापूर्वक सम्पन्न किया और इसीसे भारत अपनेमें हीनताका बोध करके सहज ही मस्तिष्कका दासत्व स्वीकार कर परमुखापेक्षी तथा परानुकरणपरायण हो गया। विदेशी भाषा, विदेशी वेश-भूषा, विदेशी खान-पान, विदेशी रहन-सहन तथा विदेशी ज्ञानका गौरवके साथ ग्रहण करना—हमारी इस आत्महीनताके बोधका ही सहज परिणाम है। पाश्चात्त्य विद्वानोंने भ्रमसे या किसी कुटिल अभिसंधिसे इन तीन महाभ्रमोंका प्रतिपादन और प्रचार-प्रसार किया—

(१) आर्यजाति बाहरसे आयी है। भारतवर्ष उसका मूल निवास-स्थान नहीं है।

(२) चार हजार वर्ष पहलेका इतिहास नहीं है।

(३) जगत्‌में उत्तरोत्तर विकास—उन्नति हो रही है।

मस्तिष्ककी गुलामीके कारण भारतीय विद्वानोंने अधिकांशमें इन तीनों बातोंको स्वीकार कर लिया। इसीका फल है कि आज हम भारतीयोंकी अपनी संस्कृति, अपने धर्म, अपने पूर्वज तथा अपने गौरवमय महाभारत-रामायणादि प्राचीन इतिहास, अपने धर्मग्रन्थ—वेद-स्मृति तथा पुराण आदिपर अश्रद्धा और अनास्था बढ़ रही है और इसीसे भोगवादके विष-विस्तारमें बड़ी सुविधा हो गयी है। इसीसे आज हम तमसाच्छन्न होकर सभी कुछ विपरीत देखने, विपरीत सोचने और विपरीत करनेमें गौरव मान रहे हैं। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥

(१८ । ३२)

'अर्जुन ! तमोगुणसे आवृत जो बुद्धि अधर्मको धर्म (अवनतिको उन्नति, विनाशको विकास, पतनको उत्थान, पापको पुण्य इस प्रकार—) तथा सभी अर्थोंको विपरीत मानती है, वही तामसी बुद्धि है।'

आजका संसार भोगवादके विषसे जर्जरित होनेके कारण

तमसाच्छन्न होकर इसी तामसी बुद्धिके द्वारा अपने कर्तव्यका निश्चय करता और तदनुसार चल रहा है। भारतवर्ष भी आत्मविस्मृत होकर इसी तामसी बुद्धिका आश्रय ले रहा है !

भारतने यदि अपने पूर्वज ऋषि-महर्षि तथा अपनी प्राचीन संस्कृति एवं धर्मग्रन्थोंपर विश्वास करके अपनी अत्यन्त प्राचीन सर्वाङ्ग-सम्पन्न सर्वाङ्गसुन्दर आत्मवादी आदर्श संस्कृतिको न अपनाया तो इसका परिणाम उसके लिये तथा समस्त जगत्के लिये भी बहुत बुरा होगा। क्योंकि यही देश तथा यहींकी संस्कृति अनादिकालसे अध्यात्मप्रधान आत्मवादी रही है। आज भी वर्तमान जगत्की स्थितिसे असंतुष्ट यूरोप तथा अमेरिकाके बहुत-से सज्जन सच्चे शान्ति-सुखकी प्राप्तिके लिये आत्मवादी भारतवर्षकी ओर ताक रहे हैं और बहुत-से तो यहाँ आ-आकर अध्यात्मकी शिक्षा ग्रहण करना चाहते हैं। पर जब भारत ही भोगवादी हो जायगा, तब तो जगत्की सारी आशा ही लुप्त हो जायगी। भारत आज इसी भोगवादके मोहजालमें फँसा है। भारतके मनीषियोंको गम्भीरतापूर्वक इसपर विचार करके किसी प्रकाशमय पथका पता लगाकर उसपर आरूढ़ होना चाहिये।

विषयचिन्तन छोड़कर भगवच्चिन्तन करो

(एक साधक)

प्रत्येक मनुष्य अपना बहुत-सा समय प्रायः ऐसी प्रिय वस्तुओंके चिन्तनमें ही लगाता है जिन्हें वह प्राप्त करना चाहता है अथवा ऐसी अप्रिय वस्तुओंके चिन्तनमें जिन्हें वह टालना चाहता है। हमारी ऐसी आदत है और इस आदतमें एक विलक्षण बात यह है कि हम उन प्रिय अथवा अप्रिय वस्तुओंका चिन्तन और मनन करते-करते मनकी आँखोंसे उन्हें देखा करते हैं। कुछ समयतक हम बड़े सुखसे प्रिय पदार्थोंमें मनसा विचरण करते रहते हैं कि यकायक अप्रिय पदार्थोंकी अथवा किसी भावी अनिष्टकी आशङ्का हमें आ दबोचती है और हम लाचारकी तरह, असहायकी भाँति उस भावी दुःखकी चिन्तामें घुलने लगते हैं, हमारा मन क्षुब्ध और अशान्त हो उठता है और हम सर्वथा बेबस हो जाते हैं।

मनके द्वारा हम सुखके, दुःखके, भयके, आशाके और निराशाके जैसे भी चित्र बनाते रहते हैं—इन चित्रोंका हमारे जीवनपर वैसा ही बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। सच तो यह है कि इन मानसिक कल्पना-चित्रोंके द्वारा ही हमारा भविष्य बनता-बिगड़ता है। सुख, संतोष, प्रेम और आनन्दके चित्र बनानेमें यदि हमारा मन लग रहा है तो यह निश्चय मानिये कि हमारा भविष्य अवश्य ही सुखमय, संतोषमय, प्रेममय और आनन्दमय होगा—हमारी जीवनयात्रा सब प्रकारसे मङ्गलमय होगी। कभी-कभी तो ऐसा देखा जाता है कि अभी हालकी किसी छोटी तुच्छ-सी घटनाको लेकर हम इतने उदास और खिन्न हो उठते हैं कि अपने सारे भविष्यको [illegible] रंगोंमें रँगने लगते हैं। सभी बातोंको इस दुःखमयी, अवसादमयी दृष्टिसे देखने लगते हैं और सोचने लगते हैं कि अब क्या है, अब तो जीवनमें निराशा, दुःख, अवसाद और ग्लानि आदिके सिवा और रह ही क्या गया है ! एक बहुत छोटी-सी अप्रिय घटनापर हम इतना सारा तूमार बाँध लेते हैं ! ऐसे अवसरोंपर विशेषतः जब अप्रिय-ही-अप्रिय भावनाएँ मनमें आ रही हों, हमें सावधान हो जाना चाहिये और चेष्टा करके मनसे प्रिय, शुभ, सुन्दर, मधुर और मङ्गलकी भावना करने लगना चाहिये। और ऐसा करना बड़ा ही आसान है। हम जब चाहें अशुभको शुभमें, अप्रियको प्रियमें और अमङ्गलको मङ्गलमें पलट सकते हैं—क्षणभरमें, बात-की-बातमें। इसका बड़ा सुन्दर एक गुर यह है कि हम यह सोचने लगें कि क्या बड़ी क्या छोटी, प्रत्येक घटनामें, प्रत्येक अनुभवमें मङ्गलमय भगवान्का हाथ है; जीवनका छोटा-बड़ा प्रत्येक अनुभव प्रभुकी कृपासे लबालब भरा हुआ है; सब वस्तुओंमें, सारी घटनाओंमें, सम्पूर्ण अनुभवोंमें मालिकका हाथ है और बाहर-बाहरसे हम—जो कुछ देख रहे हैं, भीतर डूबकर देखनेसे पता चलेगा कि उसका राज कुछ और ही है।

जो हो, है यह एक बहुत ही मजेदार बात कि हम जैसा कुछ सोचने लगते हैं वैसा ही बन जाते हैं। मनसे जैसा भी चित्र हम बनाते हैं—वैसा-का-वैसा हम स्वयं बनते जाते हैं। साइकिलकी सवारी करनेवाले जानते हैं कि आरम्भमें सीखते समय यदि किसी पेड़ या टेलीफोनके खम्भेका भय मनमें आ

गया तो जरूर ही साइकिल पेड़से या खम्भेसे टकरा जायगी। यही बात हमारे प्रायः सभी चिन्तनोंमें है—हम प्रिय और अप्रिय जिस प्रकारकी भावना करेंगे, उसी स्थितिमें जा पड़ेंगे। उदाहरणके लिये यह मान लीजिये कि मेरे सामने कोई समस्या है या वस्तुतः न होते हुए भी मुझे वह समस्या-सी लग रही है। मैं उसको प्रार्थनाके द्वारा हल करना चाहता हूँ। मैं यह हरगिज नहीं चाहता कि समस्याकी यह स्थिति बनी रहे। परंतु बार-बार उसे सोच-सोचकर मैं दृढ़ करता जाता हूँ, क्योंकि मेरा मन उसीका मनन करने लगता है। उसे हल करनेके लिये चाहिये तो यह था कि उस ओरसे मनको मोड़कर शान्ति, समता, मङ्गल और आनन्दकी ओर लगा दिया जाय, क्योंकि मङ्गलमय प्रभुके मङ्गलमय राज्यमें मङ्गलके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। मैं यह तो चाहता हूँ कि यह संकट कटे, यह विपत्ति टले, परंतु बार-बार उस संकट और विपत्तिपर ही मनको अटकाये रखनेसे वह बनी ही रहती है, टलती नहीं। टले भी तो कैसे ? स्वयं जो मैं उसे न्योता देकर अपने मनमें बसाये रखता हूँ। चाहिये तो यह था कि मैं उस समस्याके विषयमें कुछ सोचता ही नहीं, वह हल हो या बनी रहे इस उधेड़-बुनमें न लगकर मैं शान्ति, मङ्गलाशा, सफलता आदिकी बातें सोचता और उन्हें हृदयङ्गम करता। अन्धकारसे लड़ते रहनेकी अपेक्षा, प्रकाशको ही क्यों न बुलाया जाय ?

परमात्मासे हम प्रार्थना भी करें और साथ-ही-साथ अपनी समस्यापर विचार भी करें—यह तो बिलकुल बेतुकी बात है, क्योंकि इससे समस्या हल होगी नहीं। जबतक हम एकमात्र प्रार्थनाका आधार न लेकर समस्याका भी ध्यान करते हैं, तबतक तो यही समझना चाहिये कि हमारे चित्तकी धारा समस्याकी ही ओर है। वस्तुतः आवश्यकता तो इस बातकी है कि हम अपना सारा मन-चित्त-प्राण परमात्मामें लगा दें, उस सर्वव्यापक विभुमें अपनेको लीन कर दें, उसीको सोचें, उस प्रभुके कल्याणमय, आनन्दमय रूपका ध्यान करें और अपने हृदयकी अतल गहराईमें उसकी कृपा और आशीर्वादका अनुभव करें। ऐसा करते ही हमारे मनकी धारा भगवान्‌की ओर मुड़ जायगी और हम भगवान्‌में निवास करने लगेंगे।

अच्छा, तो क्या आपके सामने कोई समस्या आ खड़ी हुई है और यदि ऐसी बात है तो क्या आप उसे हल करनेके लिये परमात्माकी अनन्त अपार शक्तिका ध्यान कर रहे हैं—जिसके द्वारा उसके सत्, चित् और आनन्दका प्रवाह आपकी ओर आ मुड़े, या आप अपनी समस्याको ही लेकर व्यस्त हैं ? ऐसे समय क्या आपके मनमें ऐसी लहरें उठती हैं कि 'मैं जानता हूँ, हाँ, हाँ, अच्छी तरह जानता हूँ कि प्रभु सर्वसमर्थ है, सर्वव्यापक है, कण-कणमें वही-वह व्याप रहा है, वह बड़ा दयालु भी है। यह सब ठीक है। परंतु……परंतु किराया चुकानेके लिये जब मेरे पास पैसे न हों और इस कारण मैं घरसे निकाल दिया जानेवाला हूँ तो मैं क्या करूँ, कैसे करूँ ?' यह है आपकी समस्याका स्वरूप। ऐसे समय चित्तको समस्यासे इतनी दूर, इतना ऊँचा उड़ा ले जाओ कि समस्याकी रेखा फीकी पड़ जाय और तुम एक और ही तस्वीर देख सको। वह तस्वीर है भगवान्‌की शक्तिकी, उनकी दयाकी, उनके शील-स्वभावकी और उनकी महिमाकी ! खाम-खा अगर तुम यही गाँठ बाँध लो कि तुम्हारी समस्या महान् एवं विकट है और भगवान्‌की दया तथा शक्ति उसे किसी प्रकार हल नहीं कर सकती, तो सचमुच भगवान्‌की शक्ति तुम्हारी समस्या सुलझानेमें लगनेसे रही। सोचते रहो, घुलते रहो अपनी समस्याकी कठिनाईमें। इससे वह हल तो क्या होगी, उलटे तुम्हारे मनमें—मस्तिष्कमें एक प्रकारकी सड़न पैदा कर देगी और तुम उसीमें फँसे रहोगे, उसीमें डूबोगे-उतराओगे।

माना, तुम्हें कोई सता रहा है—दिक (परेशान) कर रहा है। माना कि परिवारके कुछ आदमी तुम्हें कुछ-का-कुछ समझकर तुम्हारे प्रति अनुचित व्यवहार कर रहे हैं, तुम्हारे सद्भाव और सत्प्रेरणाओंका उलटा अर्थ लगा रहे हैं। तुम्हें संदेहकी दृष्टिसे देखते हैं। क्या तुम्हारे कुटुम्बमें कोई आवारागर्द है जो मनमाना चलता है, जो जीमें आता है कर गुजरता है ? यदि सचमुच ऐसी बात है तो मैं तुमसे यह कहूँगा कि उसकी आवारागर्दीपर बहुत सोच-विचार मत करो, बार-बार उसपर ध्यान मत दो, बल्कि एकान्तमें प्रभुसे प्रार्थना करो कि 'हे प्रभो ! इसे सद्बुद्धि दो, इसे सुधारो-सँभालो।' इतना ही काफी है। यदि कोई ऐसा तराजू होता जिसमें चिन्तन-धाराएँ तौली जा सकतीं तो यह बतलाया जा सकता कि तुम प्रभुकी अपेक्षा समस्याओंका ही चिन्तन-मनन अधिक करते हो और तुम्हारी समस्याका पलड़ा ही अधिक बोझीला है।

इन बे-मतलबकी चिन्ताओंसे अपने चित्तको हटा ले चलो, दूर-बहुत दूर। इस अप्रिय-चिन्तनसे सब कुछ बिगड़ भले ही जाय, बनेगा रत्तीभर भी नहीं। भगवान्‌में अपने चित्तको टिकाओ, उन्हींमें अपने विश्वासका लंगर डाल दो और हर हालतमें, प्रत्येक स्थितिमें प्रभुके चरणोंमें मस्तक टेककर कृतज्ञताके भारसे झुको, क्योंकि बाहर-बाहरसे देखनेपर भले ही सब कुछ विपरीत एवं प्रतिकूल दीख रहा हो पर प्रभु मङ्गलमय है, सर्वसमर्थ है, सर्वव्यापक है और सर्वान्तर्यामी है—घट-घटकी जानता है, चींटीके पैरों तककी आहट सुनता है। तुम्हारे विचारकी धारा विश्वासके इस मङ्गलमय पथमें जब मुड़ेगी तो तुम साफ-साफ देखोगे कि तुम्हारी समस्या पता नहीं कहाँ काफूर हो गयी और वह भी पलक मारते-मारते। अभावके विचारोंकी अपेक्षा भगवान्‌के विचारोंसे अपने हृदयको भर लो। आने दो, आने दो भागवती शक्तिकी अजस्र, सरस आनन्दधाराओंको—तुम देखोगे कि आनन्दकी इस बाढ़में तुम्हारे प्रश्न, तुम्हारी समस्याएँ, तुम्हारे संकट और आपदा-विपदा न जाने कहाँ बह गये और तुम आनन्द, प्रेम और सौन्दर्यके अपार सिन्धुमें गोते लगा रहे हो! ऐसा करना है तो कुछ कठिन अवश्य, परंतु करना है भी इसे ही, क्योंकि यह आनन्दमय जीवनके लिये एक अत्यन्त अनिवार्य तथा अचूक साधन है।

भगवान्‌को देखो—उसीको देखो। समस्याओंकी ओर देखना भूल है, भ्रान्ति है। अपनी कठिनाइयों और समस्याओंको दूरबीनसे क्यों ढूँढ़ते फिरते हो? देखो न एकमात्र प्रभुको जो सर्वत्र है, सर्वदा है। शुभ चिन्तन करो, मङ्गलका विचार करो, कल्याणमें मन लगाओ—तुम्हारा शुभ होगा, मङ्गल होगा, कल्याण होगा।

आत्मोत्सर्ग

गगनचुम्बी अट्टालिका तैयार हो गयी। अनेकानेक सौन्दर्य-प्रसाधन एवं मनोरञ्जनके विविध उपकरण लाये जाने लगे। नव-निर्मित विशाल अट्टालिका पूरे शहरमें चर्चाका विषय बन गयी।

तभी दीवालकी एक ईंटने नींवमें गड़े हुए पत्थरसे पूछा—'क्यों भाई! क्या तुम्हारा मन वहाँ अँधेरेमें धरतीके नीचे पड़े-पड़े ऊबता नहीं? क्या तुम्हारी इच्छा सूर्यका प्रकाश एवं सांसारिक सौन्दर्यको देखनेकी कभी नहीं होती? तुम अपने जीवनको कोसते होओगे कि 'मैं क्यों नींवका पत्थर बन गया?'

नींवका पत्थर—नहीं, कदापि नहीं। तुम्हारी धारणा सर्वथा भ्रान्त एवं अनुचित है। मुझे इस जीवनसे पूर्ण संतोष है। बड़ी प्रसन्नता है मुझे कि मैंने अपने अस्तित्वको लोगोंकी दृष्टिसे दूर रखकर इस भव्य प्रासादके निर्माणमें सहयोग दिया है। जो दूसरोंके लिये जीता है, जीना उसीका सार्थक है। अपना अस्तित्व मिटाकर, दूसरोंके अस्तित्वको सुरक्षित रखना यही तो सृष्टिका गौरवमय विधान है बहन!

दीवालकी ईंट—किंतु भाई! यह कैसा जीवन कि लोग तुम्हारे इस त्याग-बलिदानको अपनी आँखोंसे देख भी न सके। कम-से-कम तुम्हारे इस बलिदानकी चर्चा तो होनी चाहिये। लोग विशाल प्रासादकी चर्चा करते हैं, तुम्हारी नहीं। क्या पुरस्कार मिला तुम्हें इस उत्सर्गसे?

नींवका पत्थर—देखो बहन! मुझे जन-चर्चासे या जनताके द्वारा की हुई प्रशंसासे कोई सरोकार नहीं। क्या तुम्हें मालूम नहीं कि बीज स्वतःको मिटाकर ही वृक्ष बन पाता है। मैं तो यहाँ जीवित भी हूँ, परंतु बीज तो पूर्णरूपेण समाप्त ही हो जाता है। कितना महान् त्याग है उसका। यदि वह धरतीपर न पड़े—अपनेको न समाप्त कर दे तो वृक्ष एवं फूल-फल कहाँसे आयेंगे बहन! प्रत्येक महान् कार्यके लिये किसी-न-किसीको नींवका पत्थर बनना ही पड़ता है—बनना ही चाहिये। यही उसके जीवनका परम लाभ है—यही सृष्टि-क्रम है।

साधकोंके प्रति—

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

[गताङ्क पृ॰सं॰७०६से आगे]

१. लौकिक अहंकार

जब मनुष्यका उद्देश्य असत् भोग और संग्रहको प्राप्त करनेका हो जाता है, तब उसमें 'मैं संसारी हूँ'—यह लौकिक अहंकार रहता है। ऐसा अहंकार दृढ़ होनेपर मनुष्य निरन्तर संसारी रहता है। सांसारिक कार्य करते समय तो वह संसारी रहता ही है, साधन करते समय भी वह संसारी ही रहता है। इसलिये वह जो भी साधन करता है, वह कामनाको लेकर (कामना-पूर्तिके लिये) ही करता है और वह साधन उसमें साधकपनका अभिमान बढ़ानेवाला होता है। अभिमान अहंकारका ही स्थूलरूप है।

जब मनुष्यमें भोग भोगने और संग्रह करनेकी प्रवृत्ति अधिक हो जाती है, तब उसमें स्वार्थ और अभिमान आ जाते हैं, जो कि आसुरी-सम्पत्ति है। स्वार्थ और अभिमान आनेसे उसका अहंकार आसुरी सम्पत्तिवाला हो जाता है—**'अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।'** (गीता १६।१८); **'दम्भाहंकारसंयुक्ताः'** (गीता १७।५)। आसुरी सम्पत्तिवाला अहंकार भयंकर नरकोंमें ले जाता है—**'पतन्ति नरकेऽशुचौ'** (गीता १६।१६)।

अगर ऐसा मानें कि ज्ञान (मुक्ति) होनेपर आसुरी सम्पत्तिवाला अहंकार ही मिटता है, तादात्म्यरूप अहंकार नहीं मिटता तो यह मान्यता ठीक नहीं है। कारण कि आसुरी सम्पत्तिवाला अहंकार मिटनेसे नरकोंसे तो रक्षा होती है, पर मुक्ति नहीं होती। मुक्ति तो तादात्म्यरूप अहंकार मिटनेसे ही होती है। आसुरी सम्पत्तिवाला अहंकार तो तादात्म्यरूप अहंकारका ही स्थूल रूप है, जो जीवमात्रमें रहता है। इसी तादात्म्यरूप अहंकारको लक्ष्य करके भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—**'अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥'** (गीता १८।५८); **'यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।'** (गीता १८।५९)।

अहंकारकी उत्पत्ति अविद्यासे होती है— **'अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः। अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां······'** (योगदर्शन २।३-४)। ज्ञान होनेपर अविद्याका नाश हो जाता है। जब अविद्या नहीं रहेगी, तो फिर अविद्यासे होनेवाला अहंकार कैसे रहेगा? जिस ज्ञानसे अविद्या न मिटे, वह ज्ञान कैसा? वह तो सीखा हुआ ज्ञान है, अनुभव किया हुआ ज्ञान नहीं। अगर तादात्म्यरूप अहंकार नहीं मिटेगा तो जैसे बीजसे वृक्ष पैदा हो जाता है, ऐसे ही प्राकृत पदार्थ, व्यक्ति, क्रिया, परिस्थिति आदिका संग पाकर वह अहंकार भी आसुरी सम्पत्तिवाला हो जायगा।

गीतामें जहाँ ज्ञानके साधनोंका वर्णन हुआ है, वहाँ भगवान्‌ने अहंकारसे रहित होनेकी बात कही है—**'अनहंकार एव च'** (गीता १३।८)। जब साधकमें भी यह अहंकार दूर हो सकता है, तो फिर सिद्ध होनेपर यह कैसे रहेगा? सिद्ध होनेपर तो तादात्म्यरूप अहंकारका सर्वथा नाश हो जाता है। भगवान्‌ने कर्मयोगमें **'निर्ममो निरहंकारः'** (गीता २।७१) पदोंसे, ज्ञानयोगमें **'अहंकारं······ विमुच्य निर्ममः'** (१८।५३) पदोंसे और भक्तियोगमें **'निर्ममो निरहंकारः'** (१२।१३) पदोंसे तादात्म्यरूप अहंकारके नाशकी ही बात कही है।

२. पारमार्थिक अहंकार

जब मनुष्यका उद्देश्य केवल सत्-तत्त्वको प्राप्त करनेका हो जाता है, तब वह उसकी प्राप्तिके लिये 'मैं साधक हूँ'—इस पारमार्थिक अहंकारको लेकर साधन करता है। 'मैं साधक हूँ'—यह अहंकार मुक्त करनेवाला है*। अहम्‌में बैठी हुई बात निरन्तर रहती है। अतः 'मैं साधक हूँ'—ऐसा अहंकार दृढ़ होनेपर साधकके द्वारा निरन्तर साधन होता है। साधन करते समय तो वह साधक रहता ही है, सांसारिक कार्य करते समय भी वह साधक ही रहता है। इसलिये वह जो भी

* 'अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे।।'

दासोऽहं कोसलेन्द्रस्य—यह पारमार्थिक अहंकार है। वास्तवमें यह अहंकार नहीं है, प्रत्युत भगवान्‌पर दृढ़ विश्वास है और तादात्म्यरूप अहंकारका नाश करके मुक्ति देनेवाला है।

सांसारिक कार्य करता है, वह अपने साधनके अनुरूप ही करता है। जैसे लोभी आदमी ऐसा कोई भी कार्य नहीं करता, जिससे धनका नाश हो, ऐसे ही वह साधक अपने साधनसे विरुद्ध कोई भी कार्य नहीं करता।

साधककी साधनसे और साधनकी साध्यसे एकता होती है। इसलिये जबतक साधक साधनमें तल्लीन नहीं होता, तबतक साध्य (परमात्मतत्त्व) की प्राप्ति नहीं होती। जबतक साधकमें अहंकार रहता है, तबतक वह साधनमें तल्लीन नहीं होता। अहंकार मिटनेपर साधक साधनमें तल्लीन हो जाता है अर्थात् साधक नहीं रहता, प्रत्युत साधनमात्र रह जाता है। साधनमात्र रहते ही साधन साध्यमें परिणत हो जाता है अर्थात् साध्यकी प्राप्ति हो जाती है।

साधनभेदसे कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—ये तीन भेद भी अहंकारके कारण ही होते हैं। साधक ज्यों-ज्यों साधनमें आगे बढ़ता है, त्यों-त्यों अहंकार मिटता जाता है और ज्यों-ज्यों अहंकार मिटता है, त्यों-त्यों कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोगका भेद भी मिटता जाता है। कर्मयोगमें अहंकारके रहते हुए भी साधन किया जा सकता है, जो कर्मयोग सिद्ध होनेपर मिट जाता है। ज्ञानयोगमें अहंकार ब्रह्मके साथ मिल जाता है। भक्तियोगमें अहंकार भगवान्‌के अर्पित हो जाता है। तात्पर्य है कि कर्मयोगमें अहम् शुद्ध होता है, ज्ञानयोगमें अहम् मिटता है और भक्तियोगमें अहम् बदलता है। अहम्‌का शुद्ध होना, मिटना और बदलना—ये तीनों परिणाममें एक हो जाते हैं।

कर्मयोग भौतिक साधना है, ज्ञानयोग आध्यात्मिक साधना है और भक्तियोग आस्तिक साधना है। भौतिक साधनामें 'अकर्म'की मुख्यता रहती है, आध्यात्मिक साधनामें 'आत्मा'की मुख्यता रहती है और आस्तिक साधनामें 'परमात्मा'की मुख्यता रहती है। इसलिये कर्मयोगी सम्पूर्ण कर्मोंमें एक अकर्मको देखता है— **'कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।'** (गीता ४। १८); ज्ञानयोगी सम्पूर्ण प्राणियोंमें एक आत्माको देखता है— **'सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।'** (गीता ६। २९); और भक्तियोगी सबमें एक परमात्माको देखता है अर्थात् अनुभव करता है— **'यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।'** (गीता ६। ३०)। अकर्म, आत्मा तथा परमात्मा—तीनों तत्त्वसे एक ही हैं। अतः 'अकर्म' में आत्मा भी है और परमात्मा भी है, 'आत्मा'में अकर्म भी है और परमात्मा भी है तथा 'परमात्मा'में अकर्म भी है और आत्मा भी है। तात्पर्य है कि अहंकारके कारण अकर्म, आत्मा और परमात्मा—ये तीन भेद होते हैं। तत्त्वमें ये तीन भेद नहीं हैं।

अकर्मका अनुभव करनेसे कर्मयोगी कृतकृत्य हो जाता है अर्थात् उसके लिये कुछ करना शेष नहीं रहता। आत्माका अनुभव करनेसे ज्ञानयोगी ज्ञातज्ञातव्य हो जाता है अर्थात् उसके लिये कुछ जानना शेष नहीं रहता। परमात्माका अनुभव करनेसे भक्तियोगी प्राप्तप्राप्तव्य हो जाता है अर्थात् उसके लिये कुछ पाना शेष नहीं रहता।

कृतकृत्य होनेसे कर्मयोगी ज्ञातज्ञातव्य और प्राप्तप्राप्तव्य भी हो जाता है, ज्ञातज्ञातव्य होनेसे ज्ञानयोगी कृतकृत्य और प्राप्तप्राप्तव्य भी हो जाता है तथा प्राप्तप्राप्तव्य होनेसे भक्तियोगी कृतकृत्य और ज्ञातज्ञातव्य भी हो जाता है। कृतकृत्य, ज्ञातज्ञातव्य और प्राप्तप्राप्तव्य होनेसे तादात्म्यवाला अहंकार सर्वथा नष्ट हो जाता है और तत्त्व रह जाता है अर्थात् अनुभवमें आ जाता है। फिर साधकोंके साधनोंका भेद नहीं रहता। साधक साधन होकर साध्य हो जाता है।

प्रश्न—हमारा स्वरूप अहम् (मैंपन) से रहित है—इसका अनुभव कैसे करें?

उत्तर—सत्तामात्र अर्थात् केवल होनापन ही हमारा स्वरूप है। इस सत्तामात्रके सिवा और सबका अभाव है। जितना देखने, सुनने और समझनेमें आता है तथा जिन यन्त्रों (शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि) से देखते, सुनते और समझते हैं एवं देखना, सुनना और समझना—ये सब-के-सब क्षणभङ्गुर हैं अर्थात् इनकी एक क्षण भी सत्ता (अस्तित्व) नहीं है। परंतु स्वतःसिद्ध सत्ताका क्षणमात्र भी कभी अभाव हुआ नहीं, है नहीं, होगा नहीं और हो सकता नहीं।

अपना जो होनापन (स्वरूप) है, उसमें 'मैं' नहीं है और जो 'मैं' है, उसमें होनापन नहीं है। जितने भी विकार हैं, सब मैंपनमें ही हैं, स्वरूपमें नहीं। सत्तारूप होनेसे स्वरूपमें स्वतः निर्लिप्तता है। इस स्वतःसिद्ध सत्ता (स्वरूप) में कभी कोई विकार हुआ नहीं, है नहीं, होगा नहीं और हो सकता नहीं।

मैंपनका नित्य-निरन्तर विकारी रहनेका स्वभाव है और स्वरूपका नित्य-निरन्तर निर्विकार रहनेका स्वभाव है। स्वतःसिद्ध सत्तामें न कर्तृत्व है, न भोक्तृत्व है—'**न करोति न लिप्यते**' (गीता १३।३१); न करना है, न करवाना है—'**नैव कुर्वन्न कारयन्**' (गीता ५।१३)।

गीता (७।४) में भगवान्ने कहा है—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥

'पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश—ये पञ्चमहाभूत और मन, बुद्धि तथा अहंकार—यह आठ प्रकारके भेदोंवाली मेरी अपरा प्रकृति है।'

तात्पर्य है कि पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहम्—ये सब एक ही जातिके (अपरा) हैं। अतः जिस जातिकी पृथ्वी है, उसी जातिका अहम् (मैंपन) है अर्थात् मिट्टीके ढेलेकी तरह मैंपन भी जड और दृश्य है। जैसे पदार्थ दृश्य हैं, ऐसे यह मैंपन भी दृश्य है अर्थात् पदार्थोंकी तरह यह मैंपन भी जाननेमें आनेवाला है। हमारा स्वरूप अहम्से अलग है—इसका लक्ष्य करानेके लिये एक बात कही जाती है।

सुषुप्ति (गाढ़ नींद) से जगनेपर हम कहते हैं कि मैं ऐसे सुखसे सोया कि मेरेको कुछ पता नहीं था। पता इसलिये नहीं था कि उस समय अहम् नहीं था अर्थात् अहम् अविद्यामें लीन हो गया था। परंतु हम तो उस समय थे ही। अगर हम न होते तो 'कुछ भी पता नहीं था'—इसका पता किसको लगता? जगनेके बाद कौन कहता कि मेरेको कुछ भी पता नहीं था? पता लगानेवाला जो अहंभाव था, वह तो नहीं था, पर हम तो थे ही। जैसे, एक घरमें कोई आदमी है। बाहरसे कोई आवाज देता है कि क्या घरमें अमुक आदमी है? तो वह घरके भीतरसे कहता है कि घरमें नहीं है, तो क्या 'घरमें नहीं है'—ऐसा बोलनेवाला भी नहीं है? अगर घरमें कोई नहीं होता तो कौन कहता कि वह घरमें नहीं है? बोलनेवाला तो है ही। इस तरह सुषुप्तिमें 'मेरेको कुछ भी पता नहीं था'—इसको जाननेवाला तो था ही। तात्पर्य है कि सुषुप्तिमें मैंपन तो नहीं रहता, पर अपना होनापन रहता है अर्थात् सुषुप्तिमें मैंपनसे रहित अपनी सत्ता सिद्ध होती है।

हम मैंपनके भाव और अभाव दोनोंको जाननेवाले हैं। मैंपनका अभाव होता है, पर हमारा अभाव नहीं होता। सब संसार मिट जाय तो भी हमारी सत्ता रहती है। अतः सत्ता (होनापन) हमारा स्वरूप है। मैंपन हमारा स्वरूप नहीं है।

(समाप्त)

क्रोध रहते दर्शन नहीं

एक जिज्ञासु साधकने महात्माके पास जाकर उनसे पूछा कि 'कोई ऐसा साधन बताइये, जिससे मुझे भगवान्के प्रत्यक्ष दर्शन हों।' महात्माने कहा—'उस घरके एक कोनेमें बिलकुल शान्तिके साथ बैठकर पूरे एक सालतक भजन करो।' उसने एक वर्षतक भजन किया। वर्ष पूरा होनेके दिन महात्माने भंगिनसे कहा कि 'वह साधक जब इधर आने लगे तब उसके पास जाकर धूल झाड़ देना।' भंगिनने ऐसा ही किया। तब तो वह डंडा लेकर उसे डाँटता-फटकारता हुआ दौड़ा। फिर महात्माके पास जाकर नम्रतासे बोला—'एक वर्ष तो हो गया मुझे दर्शन नहीं हुए।' महात्माने कहा—'अभी तो तू राक्षसकी तरह मारने दौड़ता है, जा, एक वर्ष मनको पूरा शान्त रखकर भजन कर।' दूसरा वर्ष पूरा होनेके दिन महात्माने भंगिनको समझाया—'आज उसे झाड़ू छुला देना।' उसने वैसा ही किया। इस बार वह मारने तो नहीं दौड़ा, पर क्रोधमें भरकर उसने कहा—'तेरा कैसा नीच स्वभाव है। झाड़ू भी सँभालकर नहीं देती।' फिर महात्माके पास जानेपर महात्मा बोले—'अब तू मारता तो नहीं, पर अभी सर्पकी तरह फुफकार मारता है, जा एक वर्ष फिर भजन कर।' तीसरी बार महात्माने भंगिनसे कहकर उसपर कूड़ेकी टोकरी उड़ेलवा दी। तब वह दीनतासे भंगिनके चरणोंपर गिर पड़ा और बोला—'मैया! तूने मेरा बड़ा उपकार किया है।' फिर वह महात्माके पास पहुँचा। महात्माने प्रसन्न होकर उसे आशीर्वाद दिया और उसकी मनःकामना पूर्ण हुई।

'नामु राम को कलपतरु'

(डॉ॰ श्रीरंजनसूरिदेवजी)

भारतीय जीवनमें कल्पवृक्षको देव और मानवकी अभीप्सित-पूर्तिका अलौकिक माध्यम माना गया है। पौराणिक मान्यताके अनुसार यह कल्पवृक्ष प्रसिद्ध देवासुरकृत समुद्र-मन्थनके क्रममें उपलब्ध चौदह रत्नोंमें अन्यतम है। कल्पवृक्ष मुख्यतया धन-वैभव और सुख-समृद्धिका दाता, दिव्य वृक्ष-विशेषका द्योतक है। यह लौकिक-पारलौकिक अभिलषित पदार्थोंकी पूर्ति करनेवाला है। *'जाइ निकट पहिचानि तरु····।'* समस्त प्राचीन भारतीय वाङ्मयमें कल्पवृक्षको समस्त संतापोंका शामक और समस्त पदार्थोंका प्रापक बताया गया है। इसीलिये काव्य-जगत्में मनोरथपूरक उपमेयोंकी तुलनाके लिये कल्पवृक्षको उपमानके रूपमें स्वीकृत किया गया है। अनन्य रामभक्त गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी रामनामकी महिमाके समर्थक भक्तिमार्गी संतोंमें अग्रगण्य हैं। उन्होंने रामनामकी महिमाके कीर्तनकी प्राचीन परम्पराको विशेषरूपसे प्रवर्तित किया। गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी रामनामको सकल मनोरथका दाता मानते हैं, इसलिये उन्होंने रामनामकी तुलना कल्पतरुसे की है। उनकी निश्चित मान्यता है कि विशेषतया कलियुगमें तो एकमात्र राम-नाम ही कल्पतरुकी भाँति कल्याण कर सकता है।

नामु राम को कलपतरु कलि कल्यान निवासु।
जो सुमिरत भयो भाँग तें तुलसी तुलसीदासु॥

× × ×

नाम कामतरु काल कराला। सुमिरत समन सकल जग जाला॥
राम नाम कलि अभिमत दाता। हित परलोक लोक पितु माता॥

(मानस १। २६; २७। ५-६)

यह प्रसंग 'मानस'के बालकाण्डका है, जिसे महाकवि तुलसीने रामके गुणों और उनके चरितके बखान करनेके क्रममें उपन्यस्त किया है। उनका सहज विश्वास है कि कलियुगमें रामका नाम कल्पतरु (मनचाहा पदार्थ देनेवाला) है और कल्याणका निवास भी है, जिसके स्मरण करनेसे ही भाँगके पौधे-सा निकृष्ट स्वयं तुलसीदास भी तुलसीके बिरवेके समान पवित्र हो गया। अतिशय कराल और पापमूल कलियुगमें रामका नाम ही तो कल्पतरु है, जिसका स्मरण करते ही संसारके सभी जंजालोंका नाश हो जाता है। कलिकालमें यह रामनाम मनोवाञ्छित फल देनेवाला है। इतना ही नहीं, यह परलोकका परम हितैषी और इस लोकके लिये माता-पिताके समान है। अर्थात् परलोकमें यह भगवान्‌के रूपमें परमधाम देता है और इस लोकमें माता-पिताके समान सब प्रकारसे पालन एवं पोषण (रक्षण) करता है।

श्रीतुलसीदासजीने रामसे अधिक उनके नामको ही महत्त्व दिया है, क्योंकि रामनाममें इतनी शक्ति है कि वह न केवल मनकी अभिलाषाकी पूर्ति करता है वरन् मनकी अभिलाषाकी पूर्ति करनेवालोंके भी मनोरथोंकी पूर्ति करता है अर्थात् रामनाम कल्पतरुका भी कल्पतरु है। यानी इस संसारमें सर्वोपरि कल्पतरु रामनाम ही है। तुलसीने कहा है—

ब्रह्म राम तें नामु बड़ बर दायक बर दानि।
रामचरित सत कोटि महँ लिय महेस जियँ जानि॥

(मानस १। २५)

अर्थात् निर्गुण ब्रह्म और सगुण राम दोनोंसे रामनाम बड़ा है। यह वरदान देनेवालोंको भी वर देनेवाला है। इसकी महत्ताको स्वयं श्रीशिवजीने अपने मनमें समझा था, तभी तो उन्होंने सौ करोड़ रामचरितोंमें केवल रामके नामको ही साररूपमें ग्रहण किया था।

श्रीतुलसीदासजीने रामके नामजपकी महिमा बताते हुए कहा है कि नामजपके ही प्रसादसे शिवजीको अविनाशी पद प्राप्त हुआ और अमङ्गल-वेषी होनेपर भी वे मङ्गलराशिके रूपमें प्रतिष्ठित और पूजित हुए हैं और फिर शुकदेव तथा सनक आदि सिद्ध मुनि और योगी नामकी कृपासे ही ब्रह्मके अचिन्त्य आनन्दका उपभोग करते हैं। नामजपके कारण ही देवर्षि नारद विश्वके अधिनायक भगवान् शिव एवं विष्णुके अत्यन्त आत्मीय प्रिय पात्र बन गये और प्रह्लाद परम भागवतोंमें अग्रणी बन गये। इनके अतिरिक्त ध्रुवने भी रामनामके जपके प्रतापसे ही अचल अनुपम लोक (ध्रुवलोक) को प्राप्त किया और हनुमान्‌ने पवित्र नामस्मरणके प्रभावसे ही श्रीरामको अपना वशवर्ती बना लिया। यहाँतक कि अजामिल, गज, गणिका आदि भी नामके माहात्म्यसे

ही मुक्त हो गये। इस प्रकार कल्पतरु-स्वरूप रामनामके गुण अनन्त हैं, जिनकी गणना नहीं की जा सकती।

नामका प्रभाव इतना अधिक है कि पात्र या अपात्र जो कोई भी व्यक्ति जिस किसी भावसे रामका नाम जपता है, उसके लिये दसों दिशाओंसे कल्याणकी वर्षा होती है। कलियुगमें तो भगवान्‌के नामके अतिरिक्त और कोई दूसरा उपाय नहीं है—

हरेर्नामैव नामैव हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

स्वयं शिवजी इस महामन्त्रका जप करते रहते हैं और काशीमें मरनेवालोंको इसी तारक-मन्त्रका उपदेश देते हैं। गणेशजीकी प्रथम पूज्यता भी रामनाम जपनेके प्रभावसे ही हुई। रामका नाम उलटा-सीधा चाहे जैसे भी जपा जाय, उसका अमोघ फल अवश्य प्राप्त होता है। आदिकवि श्रीवाल्मीकि तो रामका नाम उलटा 'मरा-मरा' जपकर ही पवित्र पदपर प्रतिष्ठित हो गये। एक बार रामका नाम लेना विष्णुके सहस्र नामके बराबर है। इसलिये भगवती पार्वती भगवान् शिवजीके साथ निरन्तर रामनामका जप करती रहती हैं। नामजपका यज्ञ सभी यज्ञोंसे श्रेष्ठतम है। मनुने कहा है कि सभी प्रकारके यज्ञ जपयज्ञकी सोलहवीं कलाके भी बराबर नहीं हो सकते। **'सर्वे ते जपयज्ञस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्।'** स्वयं भगवान् शिवने भी रामनामकी महिमाके विषयमें भगवती पार्वतीसे कहा है—

राम रामेति रामेति रमे रामे मनोरमे।
सहस्रनाम तत्तुल्यं रामनाम वरानने॥

इसी रामनामके जपके प्रभावसे भगवती पार्वती श्रीशिवजीकी अर्धाङ्गिनी बन गयीं और श्रीशिवजीके लिये कालकूट विष भी अमृत बन गया।

राम और उनके नाममें कोई अन्तर नहीं है। नाम और नामी दोनों एक-से हैं, किंतु दोनोंमें परस्पर स्वामी और सेवकके समान प्रीति है। नाम और नामीमें पूर्ण एकता होनेपर जैसे स्वामीके पीछे सेवक चलता है, वैसे ही नामके पीछे नामी चलते हैं। प्रभु श्रीराम अपने नामका ही अनुगमन करते हैं, नाम लेते ही भक्तके पास उपस्थित हो जाते हैं। नाम और रूप दोनों ईश्वरकी उपाधि हैं। ये नाम और रूप दोनों अनिर्वचनीय और अनादि हैं तथा शुद्ध भक्तियुक्त बुद्धिसे ही इनका दिव्य अविनाशी सच्चिदानन्दमय स्वरूप समझमें आता है। नाम और रूपमें कौन बड़ा है और कौन छोटा, यह कहना कठिन है। नामके बिना रूपका ज्ञान नहीं हो सकता। ऐसा देखा भी गया है कि नामके स्मरणमात्रसे ही विशेष प्रेमके कारण रूप हृदयमें आ जाता है—निर्गुण सगुणरूपमें परिवर्तित हो जाता है।

श्रीतुलसीदासजी कहते हैं, जिसे बहिरन्तःप्रकाशकी कामना है, उसे अपने मुखरूपी द्वारकी जीभरूपी देहलीपर रामनामका ज्योतिर्मय मणिदीप रखना चाहिये। रामनामकी चिन्तामणि-स्वरूपता या कल्पतरु-रूपता इस अर्थमें भी है कि जो नामको भक्तिपूर्वक जपते हैं, वे परमात्माके गूढ़ रहस्यको जान लेते हैं। यहाँतक कि लौकिक सिद्धियोंके चाहनेवाले जो साधक तन्मय होकर रामनामका जप करते हैं, वे अणिमा, लघिमा आदि आठों सिद्धियोंको प्राप्त कर लेते हैं। फिर संकटके समय यदि आर्त भक्त नामजप करते हैं तो उनके बड़े-से-बड़े संकट भी पलभरमें मिट जाते हैं।

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी अपनी रचनाओंमें रामनामकी कल्पतरुताका उल्लेख बार-बार करते हुए भी अघाते नहीं हैं। समस्त तुलसीसाहित्यका आधेसे भी अधिक भाग पूर्णतया राम-नामकी वन्दनामें ही उपन्यस्त हुआ है। विनयपत्रिकामें एक स्थलपर उन्होंने रामनामकी कल्पतरु और कामधेनुसे तुलना करते हुए लिखा है—

संतजन-कामधुक-धेनु, विश्रामप्रद, नामकलि-कलुष-भंजन अनूपं॥
धर्म-कल्पद्रुमाराम, हरिधाम-पथि संबलं, मूलमिदमेव एकं।
त्यागि सब आस, संत्रास, भव पास, असि निसित हरिनाम जपु दासतुलसी॥

जिनका अनुपम नाम संतोंको कामधेनुके समान इच्छित फल देनेवाला तथा शान्तिदायक और कलियुगके भारी पापोंको नाश करनेमें सानी नहीं रखता। यह श्रीरामनाम धर्मरूपी कल्पवृक्षका बगीचा, भगवान्‌के धाममें जानेवाले पथिकोंके लिये पाथेय तथा समस्त साधन और सिद्धियोंका मूल आधार है। हे तुलसीदास! सारी आशा और भयको छोड़कर संसाररूपी बन्धनको काटनेके लिये पैनी तलवारके समान श्रीराम-नामका सदा जप कर।

साहित्य और कलामें भगवान् विष्णुकी शक्ति—श्रीदेवी

(प्रो॰ श्रीकृष्णदत्तजी बाजपेयी)

श्रीदेवी या लक्ष्मीजी सृष्टिके पालक एवं संचालक भगवान् विष्णुकी आह्लादिनी शक्ति हैं। उन्हें प्राचीन साहित्य और कलामें विशिष्ट स्थान प्रदान किया गया है तथा सौभाग्य, ऐश्वर्य एवं समृद्धिकी अधिष्ठात्री देवी माना गया है। उनका पूजन अनेक रूपोंमें भारत और उसके बाहर कई देशोंमें अति प्राचीन कालसे प्रचलित है।

भारतीय प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेदमें 'लक्ष्मी' शब्दका प्रयोग कल्याण या मङ्गलदात्रीके अर्थमें प्राप्त होता है। परवर्ती वैदिक साहित्यमें श्री और लक्ष्मीके नाम साथ-साथ मिलते हैं। ऋग्वेदोक्त प्रसिद्ध 'श्रीसूक्त' के अनुसार ये दोनों नाम एक ही देवीके ज्ञापक हैं, जिसे कमलके ऊपर आसीन कहा गया है। पद्मा, कमला, कमलात्मिका, पद्मवनालया, पद्मावती आदि उनके कई नाम हैं।

वैदिक साहित्यमें श्री—लक्ष्मीके जो उल्लेख प्राप्त हैं, उनमें स्पष्ट ही भगवान् विष्णुकी पत्नी, माधवी, प्रियसखी एवं अच्युतवल्लभाके नामसे अभिहित किया गया है। लक्ष्मी-गायत्री (श्रीसूक्त २५-२६) में भी इन्हें इन्हीं नामोंसे सम्बोधित किया गया है—

विष्णुपत्नीं क्षमां देवीं माधवीं माधवप्रियाम्।
लक्ष्मीं प्रियसखीं भूमिं नमाम्यच्युतवल्लभाम्॥
महालक्ष्म्यै च विद्महे विष्णुपत्न्यै च धीमहि।
तन्नो लक्ष्मीः प्र चोदयात्॥

यजुर्वेद (तैत्तिरीय संहिता ७।५।१४) में लक्ष्मीका एक नाम अदिति भी निर्दिष्ट है। अदितिको आदित्य, मित्र, वरुण आदिकी माता बताया गया है। उनकी एक संज्ञा 'भूदेवी' भी है। विष्णुकी अनेक प्राचीन मूर्तियाँ मिली हैं, जिनमें उनके एक ओर लक्ष्मी और दूसरी ओर भूदेवी प्रदर्शित हैं। पूर्वमध्यकालीन कुछ मूर्तियोंमें भूदेवीके स्थानपर सरस्वती मिलती हैं।

वाल्मीकिरामायण, महाभारत एवं पुराणों तथा परवर्ती संस्कृत-साहित्यमें विष्णु-पत्नीके रूपमें लक्ष्मीका स्थान प्रमुख रूपसे प्राप्त होता है। उनकी उत्पत्तिके विषयमें पुराणोंमें मिलता है कि देवासुरोंद्वारा समुद्र-मन्थन करते समय अनेक रत्नोंके साथ लक्ष्मीका भी प्रादुर्भाव हुआ। वे भगवान् विष्णुकी पत्नी बनीं और उनकी महती शक्तिके रूपमें समादृत हुईं। समुद्रसे उत्पन्न होनेके कारण लक्ष्मीके क्षीरसागरकन्यका, क्षीरोदतनया, सिन्धुजा आदि कई नाम प्रसिद्ध हुए।

लक्ष्मी और कमल

पद्मके साथ लक्ष्मीका सम्बन्ध बहुत प्राचीन कालसे ही उपलब्ध होता है। देवीकी संज्ञाएँ पद्मा, पद्महस्ता, पद्मासना, कमलालया आदि प्रसिद्ध हैं। प्राचीन प्रतिमा-लक्षण-ग्रन्थोंमें लक्ष्मीके साथ कमलका अनेक प्रकारसे सम्बन्ध दिखाया गया है। उदाहरणार्थ—'पूर्वकारणागम' नामक ग्रन्थ-(पटल १२)में श्रीलक्ष्मीको **'पद्मपत्रासनासीना, पद्मा, पद्महस्तिनी'** अर्थात् पद्मपत्रके आसनपर बैठी हुई कमलके-से रंगवाली तथा हाथमें कमल धारण करनेवाली कहा गया है। 'विष्णुधर्मोत्तरपुराण'में लक्ष्मीका वर्णन करते हुए उन्हें **'पद्मस्था पद्महस्ता च गजोत्क्षिप्तघटप्लुता'**—कमलपर स्थित, कमलधारिणी तथा हाथियोंद्वारा उठाये हुए घड़ोंसे अभिषिक्त कहा गया है। कमलका पुष्प सुकुमारता, उज्ज्वलता, सरसता, स्निग्धता और शान्ति, सौहार्द आदि गुणोंका द्योतक है। साहित्य और कलामें हाथमें लीलाकमल धारण किये हुए अनेक नारी-रूपोंके सुन्दर आलेखन मिलते हैं। कालिदासने 'मेघदूत' (उत्तर मेघ २) में अलकापुरीकी महिलाओंका वर्णन करते हुए लिखा है कि वे हाथोंमें लीलाकमल लिये रहती हैं और उनकी अलकोंमें कुन्दके पुष्प सुशोभित होते हैं—

'हस्ते लीलाकमलमलके बालकुन्दानुविद्धम्।'

बाणभट्टने 'कादम्बरी'में उत्फुल्ल कमलको हाथमें धारण किये हुए लक्ष्मीका उल्लेख किया है—

'उत्फुल्लारविन्दहस्तया आलिङ्गितो लक्ष्म्या।'

अन्य अनेक कवियोंने लक्ष्मीके मनोरम वर्णन किये हैं। आगम तथा अन्य लक्षण-ग्रन्थोंमें लक्ष्मीके प्रतिमा-निर्माणका विधान मिलता है। 'अंशुमद्भेदागम' के पटल ४९ में लिखा है—

लक्ष्मीः पद्मसमासीना द्विभुजा काञ्चनप्रभा।
हेमरत्नोज्ज्वलैर्नकैः कुण्डलैः कर्णमण्डिता॥

'भगवती लक्ष्मीकी प्रतिमा कमल-पुष्पपर बैठी हुई द्विभुजाधारिणी तथा सोनेके-से रंगवाली निर्मित की जानी चाहिये एवं उनके कानोंमें सोने और रत्नसे जटित मकराकृतिवाले उज्ज्वल कुण्डल सुशोभित होने चाहिये।'

लक्ष्मीको चारुशीला युवतीके रूपमें चित्रित करनेका विधान प्राप्त होता है। तदनुसार देवीके नेत्र प्रफुल्ल कमलके समान और भौंहें कुञ्चित होनी चाहिये। उनके एक हाथमें श्रीफल या मातुलुङ्ग (बिजौरा नींबू) तथा दूसरेमें पद्म धारण कराना चाहिये। सुन्दर वस्त्र तथा विविध आभूषणोंसे लक्ष्मी-प्रतिमाको सुसज्जित करना चाहिये। कुछ प्राचीन लक्षण-ग्रन्थोंमें लक्ष्मीके चार हाथके निर्माण करनेका विधान है और लिखा है कि उनके शेष दो हाथोंमें अमृतघट और शङ्ख होने चाहिये।

श्रीदेवी या लक्ष्मीकी प्रतिमाएँ

कमलालया लक्ष्मीका चित्रण भारतीय कलामें बहुत मिलता है। भरहुत, साँची, बोधगया, मथुरा, अमरावती, तंजोर, मदुरै आदिकी कलामें पद्मस्थिता लक्ष्मीकी अनेक सुन्दर मूर्तियाँ उपलब्ध हैं। कहीं लक्ष्मीको प्रफुल्ल कमल-वनके मध्य स्थित दिखाया गया है तो कहीं त्रिभङ्ग-भावमें खड़ी हुई वे लीलाकमल धारण किये हैं। कुछ कलाकृतियोंमें कमलारूढा लक्ष्मीका अभिषेक उज्ज्वलवर्णके चार हाथियोंद्वारा दिखाया गया है। मथुराकी कुषाणकालीन एक मूर्तिमें अन्नकी बालें लिये हुए लक्ष्मी खड़ी हैं, जो यह प्रदर्शित कर रही हैं कि माताके दूधसे और अन्नसे प्राणियोंका भरण-पोषण होता है। इस मूर्तिका पृष्ठ-भाग अत्यन्त कलात्मक ढंगसे दिखाया गया है। उसपर कमल-पुष्प, पत्ते, मयूरका जोड़ा आदि अलंकरण बड़ी चारुतासे उत्कीर्ण हैं। गुप्तकालकी एक मूर्तिपर कमलालया लक्ष्मीका हाथियोंके द्वारा अभिषेक चित्रित है। कर्नाटकमें बीजापुरके समीप पट्टदकल नामक स्थानमें एक कलाकृतिपर जलके बीच कमल-शय्यापर लेटी हुई लक्ष्मीको दिखाया गया है। ऐसी ही कमल-शय्यापर आकर्षक मुद्रामें विराजमान देवीकी एक सुन्दर प्रतिमा उत्तरप्रदेशके फर्रुखाबाद जिलेके कपिल नामक स्थानमें सुरक्षित है।

भगवान् विष्णुके साथ देवी लक्ष्मीका ध्यान अनेक प्राचीन ग्रन्थों तथा अभिलेखोंके प्रारम्भिक मङ्गलाचरणके रूपमें प्राप्त होता है। देशके विभिन्न भागोंमें तथा हिंदचीन और हिंदेशियाके अनेक देशोंमें लक्ष्मीको अकेले या विष्णुके साथ बैठी हुई बहुसंख्यक कलाकृतियोंपर अङ्कित किया गया है। सप्तमातृकाओंमें भी लक्ष्मीकी एक प्रतिमा वैष्णवीरूपमें रहती है और अष्टमातृकाओंमें वे वैष्णवीसे भिन्न स्वतन्त्ररूपसे लक्ष्मीरूपमें संनिविष्ट रहती हैं। माता वैष्णवीका वाहन गरुड पक्षी तथा उनके हाथोंमें शङ्ख, चक्र, गदा तथा पद्म भी निर्दिष्ट रहते हैं। इस प्रकार आगमोंके अतिरिक्त साहित्य और कलामें श्रीलक्ष्मीके अनेकों रूपोंका आलेखन उनकी विशेष लोक-प्रियताका द्योतक है। प्रकाश और समृद्धिकी देवीके रूपमें विष्णुकी शक्ति लक्ष्मीका सम्बन्ध दीपावली-उत्सवके साथ भी संश्लिष्ट है। लक्ष्मीकी एक संज्ञा 'दीपलक्ष्मी' प्रसिद्ध है।

वेदोंसे लेकर सामान्य साहित्यतक भगवती लक्ष्मीका सर्वप्राधान्येन वर्णन प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त लक्ष्मी-तन्त्र, सौभाग्यलक्ष्मी-उपनिषद् आदि अनेक स्वतन्त्र ग्रन्थ भी इनकी पूजा-उपासना-महिमा एवं चरित्रोंसे उपनिबद्ध हैं। इनके अनेक स्तोत्र, पूजा-विधान तथा अनुष्ठान-पद्धतियाँ भी आगमोंमें प्राप्त होती हैं। यदि इनकी निष्कामभावसे आराधना की जाय तो उससे भगवान् विष्णु तथा सभी देवताओंसहित इनकी प्रसन्नता प्राप्त होती है और चतुर्वर्गप्राप्तिके साथ-साथ सभी योगैश्वर्य, व्यापक शान्ति, जीवन्मुक्ति तथा कैवल्यपद भी सुलभ हो जाता है।

'सर्वत्र परमात्माकी मधुर मूर्ति देखकर आनन्दमें मग्न रहो, जिसको उसकी मूर्ति सब जगह दीखती है वह तो स्वयं आनन्दस्वरूप ही है।'

'शान्ति तो तुम्हारे अंदर है। कामनारूप डाकिनीका आवेश उतरा कि शान्तिके दर्शन हुए। वैराग्यके महामन्त्रसे कामनाको भगा दो, फिर देखो सर्वत्र शान्तिकी शान्त मूरति।'

श्रेष्ठ और स्वाभाविक भोजन—'शाकाहार'

(श्रीरामनिवासजी लखोटिया)

अमेरिका, इंगलैंड, जापान, यूरोप तथा विश्वके अनेक स्थानोंसे ऐसे शुभ समाचार प्राप्त हो रहे हैं कि वहाँ शाकाहारियोंकी संख्या प्रतिवर्ष बढ़ रही है और बुद्धिजीवी व्यक्ति शाकाहारी-जीवन-प्रणालीको अधिक आधुनिक, प्रगतिशील और वैज्ञानिक कहते हैं, साथ ही अपने-आपको शाकाहारी कहनेमें विश्वके प्रगतिशील व्यक्ति गर्वका अनुभव करते हैं। संसारके महान् बुद्धिजीवी उदाहरणार्थ—अरस्तू, प्लेटो लियोनार्दो, दविंचि, शेक्सपीयर, पी० एच० हक्सले, इमर्सन, आइन्सटीन, जार्ज बर्नार्ड शा, एच० जी० वेल्स, श्रीमती एनी वेसेंट, सर जूलियन हक्सले, लियो टालस्टॉय, शैली, रूसो आदि सभी शाकाहारी ही थे। किंतु दुःखकी बात यह है कि भारत, जो परम्परागत अहिंसा और शाकाहारियोंका देश है, वहाँ दूसरे लोगोंकी देखा-देखी और फैशनके नामपर दिन-पर-दिन लोग अंडे एवं मांसका अपने भोजनमें समावेश करते जा रहे हैं। इसका सबसे बड़ा कारण है मांसाहारके तथाकथित प्रोटीनद्वारा अच्छा स्वास्थ्य-सम्बन्धी भ्रामक प्रचार। प्रस्तुत लेखमें इस बातका प्रयत्न किया गया है कि स्वास्थ्य और अच्छे पोषणकी दृष्टिसे ही नहीं, बल्कि अन्य कारणोंसे भी शाकाहार ही सबसे उत्तम आहार है, न कि मांसाहार।

स्वास्थ्य एवं पोषण

विश्वभरके डॉक्टरोंने यह प्रमाणित कर दिया है कि शाकाहारी भोजन उत्तम स्वास्थ्यके लिये सर्वश्रेष्ठ है। जैसे—फल-फूल, सब्जी, विभिन्न प्रकारकी दालें, अन्न एवं दूध आदिसे बने पदार्थ। ये भोजनमें कोई भी जहरीले तत्त्व नहीं पैदा करते। इसका प्रमुख कारण यह है कि जब कोई जानवर मारा जाता है तो वह मृत-पदार्थ बनता है, परंतु यह बात सब्जी आदिके साथ घटित नहीं होती। यदि किसी सब्जीको आधा काट दिया जाय और आधा काटकर जमीनमें गाड़ दिया जाय तो वह पुनः सब्जीके पेड़के रूपमें हो जायगी, क्योंकि वह एक जीवित पदार्थ है। अन्य विशिष्ट खोजोंके द्वारा भी यह पता चला है कि जब किसी जानवरको मारा जाता है, तब वह इतना भयभीत हो जाता है कि उस भयसे उत्पन्न जहरीले तत्त्व उसके सारे शरीरमें फैल जाते हैं और वे ही जहरीले तत्त्व मांसके रूपमें उन व्यक्तियोंके शरीरमें पहुँचते हैं, जो उसका प्रयोग करते हैं। हमारा शरीर उन जहरीले तत्त्वोंको पूर्णतया समायोजित करनेमें सामर्थ्यवान् नहीं है। परिणाम यह होता है कि उच्च रक्तचाप, दिल, गुर्दे तथा टी० बी० आदिकी बीमारी घर कर जाती है। इसलिये यह नितान्त आवश्यक है कि स्वास्थ्यकी दृष्टिसे हम पूर्णतया शाकाहारी हों।

अब कुछ उन तथाकथित आँकड़ोंपर भी दृष्टि डालें जो मांसाहारके पक्षमें दी जाती हैं। प्रोटीनकी ही बात लीजिये। अक्सर यह दलील दी जाती है कि अंडे एवं मांसमें प्रोटीन, जो शरीरके लिये एक आवश्यक तत्त्व है, अधिक मात्रामें पाया जाता है, किंतु यह बात कितनी गलत है, यह इससे सिद्ध होगी कि सरकारी आँकड़ोंके अनुसार ही १०० ग्रा० अंडोंमें जहाँ १३ ग्रा० प्रोटीन होगा, वहीं पनीरमें २४ ग्रा०, मूँगफलीमें ३१ ग्रा० और दूधसे बने कई पदार्थोंमें तो इससे भी अधिक प्रोटीन होता है। इसी प्रकार कैलोरीकी बात करें। जहाँ १०० ग्रा० अंडोंमें १६० कैलोरी, मुर्गेके गोश्तमें १९४ कैलोरी प्राप्त होती है, वहीं उतनी ही दालमें ३३० कैलोरी, मूँगफलीमें ४५० कैलोरी और मक्खन-निकले दूध एवं पनीरमें ३४८ कैलोरी प्राप्त होती है। फिर अंडोंके बजाय दाल आदि शाकाहार सस्ता भी है। तो हम निर्णय कर ही सकते हैं कि स्वास्थ्यके लिये क्या चीज आवश्यक है। कोलस्ट्रोलको ही लीजिये, जो कि शरीरके लिये लाभदायक नहीं है। १०० ग्रा० अंडोंमें कोलस्ट्रोलकी मात्रा ५५० मि० ग्रा० है और मुर्गेके गोश्तमें ६० है तो वही कोलस्ट्रोल सभी प्रकारके अन्नों, फलों, सब्जियों, मूँगफली आदिमें शून्य है। इसके अतिरिक्त जानवरोंके भी कुछ उदाहरण लेकर हम इस बातको प्रमाणित कर सकते हैं कि शाकाहारी भोजन स्वास्थ्यके लिये लाभप्रद है। जैसे—गैंड़ा, हाथी, घोड़ा, ऊँट। क्या ये जानवर शक्तिशाली नहीं हैं? यदि हैं, तो इसका मुख्य कारण है कि ये शुद्ध शाकाहारी हैं। इस प्रकार शाकाहारी भोजन सभी दृष्टियोंसे स्वास्थ्य एवं पुष्टि प्रदान करनेवाला है।

स्वाभाविक भोजन

मनुष्यकी संरचनाकी दृष्टिसे भी विचार किया जाय तो

शाकाहारी भोजन हमारा स्वाभाविक भोजन है। गाय, बंदर, घोड़े और मनुष्य इन सबके दाँत सपाट बने हुए हैं, जिनसे शाकाहारी भोजन चबानेमें सुगमता रहती है, जबकि मांसाहारी जानवरोंकी लंबी जीभ होती है एवं उनके दाँत नुकीले होते हैं, जिनसे वे मांसको खा सकते हैं। उनकी आँतें भी उनके शरीरकी लंबाईसे दुगुनी या तिगुनी होती हैं, जब कि शाकाहारी जानवरोंकी एवं मनुष्यकी आँत उनके शरीरकी लंबाईसे सात गुनी होती है। अर्थात् मनुष्य-शरीरकी रचना शाकाहारी भोजनके लिये ही बनायी गयी है, न कि मांसाहारके लिये।

अहिंसा और जीव-दया

आज विश्वमें सबसे बड़ी समस्या है, विश्व-शान्तिकी और बढ़ती हुई हिंसाको रोकनेकी। चारों ओर हिंसा एवं आतंकवादके बादल उमड़ रहे हैं। उन्हें यदि रोका जा सकता है तो केवल मनुष्यके स्वभावको अहिंसा और शाकाहारकी ओर प्रवृत्त करनेसे ही। सभी ऋषि-महर्षियों तथा गौतमबुद्ध, भगवान् महावीर, ईसामसीह, गुरु नानक एवं महात्मा गाँधी आदि सभी संतों एवं मनीषियोंने अहिंसापर ही विशेष बल दिया है।

अतः सभीका यह परम कर्तव्य है कि सभी जीवोंमें भगवद्बुद्धि रखते हुए उनके सेवा-धर्मको अपना मुख्य धर्म मानें। शास्त्रोंमें मांसाहारकी बात ही क्या, दूषित तथा अन्यायोपार्जित द्रव्यसे उपलब्ध अन्नादिको भी अग्राह्य एवं त्याज्य बताते हुए उसका सर्वथा निषेध किया गया है और यथोपलब्ध पवित्र अन्नको देवता, अतिथि, ब्राह्मणों आदिको निवेदित कर प्रसादके रूपमें ग्रहण करनेका निर्देश दिया गया है। इसलिये मांसाहारका सर्वथा परित्याग कर उत्तम एवं श्रेष्ठ अन्न, शाक तथा दुग्धादि गव्य पदार्थोंका सेवन करना ही सभी दृष्टियोंसे हितकर है।

लक्ष्मीका दुरुपयोग क्यों ?

(श्रीशिवकुमारजी गोयल)

भारतवर्ष धर्म और धन (लक्ष्मी) दोनोंसे सम्पन्न रहा है। जहाँ भारतने अध्यात्मवादकी भागीरथी प्रवाहित कर संसारभरके कल्याणका मार्ग प्रशस्त किया है, वहीं भारतको 'सोनेकी चिड़िया' माना जाता रहा है। जहाँ मेगस्थनीज या ह्वेनसांग-जैसे विदेशी पर्यटकोंने दूध-घीकी नदियाँ बहती देखी थीं, वही भारत सदैवसे लक्ष्मी, सरस्वती, दुर्गा आदि मातृशक्तियोंका उपासक रहा है। माँ सरस्वती ज्ञानकी अधिष्ठात्री हैं, माँ लक्ष्मी धनकी तो माँ दुर्गा शक्तिकी। इन तीनोंकी आराधनाके कारण भारत ज्ञान, शक्ति तथा धन-धान्यसे परिपूर्ण माना जाता है। रामायण-महाभारत या इतिहास तथा पुराणों आदिसे ज्ञात होता है कि हमारे यहाँ सोनेके बने महलों, अमूल्य रत्नों, मणि-माणिक्यसे जड़ी वस्तुओंकी कमी नहीं थी। गायें अमृत-तुल्य दूध देनेवाली होती थीं। खेत खाद्यान्न-रूपी सोना उगलते थे तथा वृक्ष सुस्वादु फलोंसे लदे रहते थे, किंतु आज देखते-ही-देखते ये बातें स्वप्नवत् या कल्पनामात्र लगती हैं। आज भारत संसारके अत्यन्त निर्धन देशोंमें परिगणित होने लगा है। करोड़ों व्यक्तियोंको दो समयका भोजन भी बड़ी कठिनतासे सुलभ हो पाता है तथा बच्चे भी दूधके एक घूँटके लिये लालायित दिखायी पड़ते हैं।

माँके उपभोगका शाप—हम अपने आध्यात्मिक मूल्योंको छोड़ते चले गये तथा लक्ष्मीकी माँकी तरह आराधनाकी जगह उसका दुरुपयोग करने लगे। ऋषि-मुनियोंने हमें प्रेरणा दी थी कि 'सरस्वती'की उपासना करो—विद्यादान सर्वश्रेष्ठ दान है। उसके माध्यमसे धनोपार्जन करना वर्जित था। इसीलिये गुरुकुलों-ऋषिकुलोंमें गुरु छात्रोंको निःशुल्क शिक्षा दिया करते थे, परंतु पाश्चात्त्य संस्कृतिके प्रभाव और आधुनिकीकरणने आज शिक्षाको व्यावसायिक बना डाला है।

किंतु जहाँतक लक्ष्मीमाताका प्रश्न है—हम खुलकर उसका दुरुपयोग करने लगे हैं। उसका सदुपयोग तो परोपकार, धर्म-कार्योंमें लगाना तथा दान आदि बताया गया है। धर्मशास्त्रोंमें स्पष्ट कहा गया है—दान करने तथा गरीबोंकी सेवामें खर्च करनेसे धन बढ़ता है, जब कि उसका दुरुपयोग करनेसे लक्ष्मी रूठ जाती है। कहा गया है कि कमाईके धनका कम-से-कम दस प्रतिशत दान-पुण्य

और परोपकारपर खर्च किया जाना चाहिये। किंतु आजके भोगप्रधान युगमें इन उपदेशोंको या पुरानी मर्यादाओंको कौन मानता है ? जहाँ धन हाथमें आया नहीं कि बुद्धि दिग्भ्रमित हो उठती है। सात्त्विकताकी जगह तामसिक मनोवृत्तियाँ प्रबल होने लगती हैं। सादगीका स्थान चमक-दमक ले लेती है। आजका अधिकांश धनिक वर्ग लक्ष्मीका खुला दुरुपयोग—मद्यपान, विलासिता तथा अन्य दुष्कर्मोंपर करने लग गया है। मद्यपानसे बुद्धि नष्ट होती है और देखते-ही-देखते मनुष्य प्रकाशमान लक्ष्मीकी जगह कालेधनके पीछे अंधी दौड़ लगाने लगता है। उसे न तस्करीमें बुराई नजर आती है और न मिलावट-जैसे घोर पापमें। धनके लोभमें अंधा बना मनुष्य माँ-बाप तथा सगे भाईका गला काटनेमें भी नहीं हिचकिचाता।

मानसिक तनावका कारण—शास्त्रोंमें लक्ष्मीका वाहन उलूक (उल्लू) माना गया है। हमें पहले ही चेतावनी दे दी गयी है कि केवल लक्ष्मीके पीछे बेतहाशा दौड़ लगानेका दुष्परिणाम होगा—उलूककी तरह प्रकाशसे वञ्चित हो जाना। प्रकाशमान लक्ष्मीकी जगह कालेधनकी उपासनाका ही आज यह कुपरिणाम सामने है कि हमारे धनका अधिकांश भाग मुकदमेबाजी, बीमारियों तथा व्यसनोंपर खर्च हो जाता है। नब्बे प्रतिशत व्यक्ति मानसिक तनावसे ग्रसित बन चुके हैं। प्रत्येक परिवार नयी-नयी जानलेवा बीमारियोंसे पीड़ित है।

संत कबीरदासने ईश्वरसे कामना की थी—

साईं इतना दीजिये जामें कुटुम समाय।
खुद भी भूखा ना रहे साधु न भूखा जाय॥

संत कबीर खून-पसीना बहाकर, कपड़ा बुनकर कुछ कमाते थे, फिर भी साधु-संतों-भूखोंकी उसी कमाईमेंसे बचाकर भरपूर सेवा करते थे। माँ सरस्वतीने उन्हें ऐसा वरदान दिया कि वे आज अमर हैं—उनका साहित्य अमर है। जो व्यक्ति धनका परोपकारमें, शिक्षा-प्रसारमें, अस्पतालोंके निर्माणमें सदुपयोग करते हैं—उन्हें भावी पीढ़ियाँ याद करती हैं। किंतु जो माँ लक्ष्मीका दुरुपयोग कर रहे हैं, धनको अपने व्यक्तिगत सुखों तथा विलासितापर पानीकी तरह बहा रहे हैं—आगे चलकर उनका नामोनिशान भी नहीं मिलता। माँ लक्ष्मीका शाप उन्हें निश्चय ही हमेशा-हमेशाके लिये विस्मृत बना डालता है।

और लक्ष्मी रूठ गयी—यहाँ मैं लक्ष्मीके रूठनेका एक किस्सा बताना चाहता हूँ—

राजधानी दिल्लीसे तीस किलोमीटर दूर जनपद गाजियाबादमें एक कस्बा है 'डासना'। डासनामें सन् १८५७ में एक धनी व्यक्ति थे लाला मटोलचन्द्र अग्रवाल। लालाजीपर लक्ष्मीकी इतनी असीम कृपा थी कि दिल्ली सल्तनत तक समय-समयपर उनसे कर्ज लेती थी। १८५७ के प्रथम स्वातन्त्र्य-समरके दौरान बहादुरशाह जफर विद्रोही हिन्दुस्तानी सिपाहियोंको जब वेतन नहीं दे पाये तो लाला मटोलचन्द्रने सोने-चाँदीके सिक्कोंको छकड़ोंमें भरकर उनके दरबारमें भिजवा दिया था। उन्होंने बादशाहसे कहा था—'आप चिन्ता न करें, अपने देशकी आजादीके लिये मैं अपना सर्वस्व समर्पित कर सकता हूँ।'

लाला मटोलचन्द्रकी पुत्र-वधूके रूपमें दुर्भाग्य सामने आया। उसकी बुद्धि भ्रष्ट कर दी सोनेकी चकाचौंधने। पुत्र हुआ तो उसने घोषणा कर दी—'मैं हवेलीसे जब कुआँ पूजने जाऊँगी तो रास्तेमें सोनेकी अशर्फियाँ बिछी होनी चाहिये।'

लाला मटोलचन्द्रने समझाया—'बेटी! लक्ष्मीपर पैर नहीं रखा जाता। सोनेके जेवर तो पैरोंमें पहनना भी वर्जित है।' किंतु वह महिला अभिमानमें पूरी तरह अंधी हो चुकी थी। उसने एक नहीं सुनी। उसके हठके सामने ससुरको झुकना पड़ा। मकानसे कुएँतक सोनेकी अशर्फियाँ बिछा दी गयीं। वह उन्हींपर पैर रखती हुई कुआँ पूजने गयी।

बस, उसी दिनसे लक्ष्मीने रूठना शुरू कर दिया—कुछ ही दिनोंमें एकके बाद एक करके पूरा परिवार कालके गालमें समाता चला गया। हवेली खँडहर बनती गयी। कंगालीने डेरा डाल लिया। आज भी डासनाकी वह खँडहर बनी हवेली लक्ष्मीके अपमानसे मिले शापका साक्ष्य प्रदान कर रही है।

'नित्य हँसमुख रहो, मुखको मलीन कभी न करो, यह निश्चय कर लो कि चिन्ताने तुम्हारे लिये जगत्‌में जन्म ही नहीं लिया, आनन्दस्वरूपमें सिवा हँसनेके चिन्ताको स्थान ही कहाँ है।'

साधन और साध्य

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

करणनिरपेक्ष साधन

[गताङ्क पृ० सं० ७२० से आगे]

३. मान्यताके परिवर्तनसे मुक्ति

गीतामें आया है—

नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥
अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।

(२।२४-२५)

'यह आत्मा नित्य रहनेवाला, सबमें परिपूर्ण, अचल, स्थिर स्वभाववाला और अनादि है। यह प्रत्यक्ष नहीं दीखता, यह चिन्तनका विषय नहीं है और इसमें कोई विकार नहीं है।'

—ऐसे स्वभाववाले स्वयं (आत्मा)ने नित्य-निरन्तर बदलनेवाले नाशवान्‌के साथ केवल मान्यतामात्रसे संग कर लिया तो वह चौरासी लाख योनियोंमें चला गया—'**कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥**' (गीता १३।२१)। केवल परिवर्तनशीलके साथ सम्बन्ध माननेसे कितना अनर्थ हो गया कि वह अनन्त जन्मोंसे मुफ्तमें ही दुःख पा रहा है! यह कितने आश्चर्यकी बात है! अब यदि वह इस असत्य मान्यताको छोड़ दे और सत्य तत्त्वको स्वीकार कर ले तो इसमें परिश्रम क्या है? इसमें करण, क्रिया और कर्ताका क्या काम है? इसमें परिश्रमकी गन्ध भी नहीं है। इसमें कुछ करना सम्भव ही नहीं है। इसके लिये कुछ करना मानो इस तत्त्वसे विमुख होना है!

जो किसी भी देश, काल, क्रिया, वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति, घटना आदिमें हमारेसे अलग नहीं हो सकता तथा हम उससे अलग नहीं हो सकते, उसकी प्राप्तिके लिये परिश्रम कैसे? वह हमें स्वतः-स्वाभाविक, नित्य-निरन्तर प्राप्त है। उसके लिये कुछ करना नहीं है, कुछ लाना नहीं है, कहीं जाना नहीं है! केवल उसकी तरफ लक्ष्य करना है—'***संकर सहज सरूपु सम्हारा।***' इससे सुगम और क्या हो सकता है?

जैसे ब्राह्मण हर समय अपने ब्राह्मणपनेमें स्थित रहता है, (अपने ब्राह्मणपनेको न याद करता है, न भूलता है) तो इसके लिये उसको कोई परिश्रम या अभ्यास नहीं करना पड़ता। ऐसे ही साधकको हर समय अपने होनेपन (स्वरूप) में स्थित रहना है। इसके लिये उसको कोई अभ्यास नहीं करना है। ब्राह्मणपना तो बनावटी (माना हुआ) है, पर अपना होनापन पहलेसे ही स्वतःसिद्ध है। ब्राह्मणपनेमें तो 'मैं ब्राह्मण हूँ'—ऐसा अहंकार है, पर अपने होनेपनमें कोई अहंकार नहीं है।

शरीर (संसार) प्रतिक्षण बदल रहा है, नष्ट हो रहा है—यह प्रत्यक्ष हमारे देखनेमें आता है तो इससे हमारा अविनाशी-पना ही सिद्ध होता है। कारण कि नाशवान्‌को अविनाशी ही देख सकता है। बदलनेवालेको न बदलनेवाला ही देख सकता है। अब अपने अविनाशी, न बदलनेवाले स्वरूपमें स्थित होनेके लिये कोई श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि करना चाहे तो भले ही करे, पर वास्तवमें कुछ करनेकी जरूरत नहीं है, प्रत्युत केवल सत्य तत्त्वको स्वीकार करनेकी जरूरत है। जब झूठी मान्यताके लिये भी अभ्यास नहीं किया था, तो फिर सच्ची मान्यताके लिये क्या अभ्यास करना पड़ेगा? अभ्याससे एक नयी अवस्था बन जायगी, अवस्थातीत बोध नहीं होगा। तत्त्व अवस्था नहीं है, प्रत्युत अवस्थातीत है।

जड़ चेतनहि ग्रंथि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई ॥

(मानस ७।११७।२)

जब झूठी बात भी इतनी दृढ़ हो सकती है कि छोड़नेमें कठिनाई हो, तो फिर सच्ची बात दृढ़ क्यों नहीं हो सकती? सच्ची बात दृढ़ न होनेमें मुख्य बाधा है—संयोगजन्य सुखकी लोलुपता अर्थात् संसारका आकर्षण। परंतु यह बाधा भी वास्तवमें साधककी बनायी हुई है और वह इसको मिटा सकता है। कारण कि उसमें इस बाधाको मिटानेका बल भी है, योग्यता भी है, अधिकार भी है, विवेक भी है और इसके लिये संसारकी, संत-महात्माओंकी तथा भगवान्‌की सहायता भी प्राप्त है।

प्रश्न—संसारका आकर्षण कैसे मिटायें?

उत्तर—विवेक-विचारपूर्वक देखा जाय तो संसारका आकर्षण जड़ (मन-बुद्धि-अहम्) में ही है, स्वयंमें नहीं है। परंतु जड़से तादात्म्यके कारण स्वयंने इसको अपनेमें मान लिया

है। संसार तो बहता है, पर स्वयं रहता है। कभी पूर्वसंस्कार-वश ऐसा दीखता है कि स्वयं भी भोगोंमें बह गया, पर वास्तवमें स्वयं बहा नहीं है, प्रत्युत अहम्‌के कारण तादात्म्य होनेसे उसने अपना बहना मान लिया है। स्वयंका बहना त्रिकालमें भी सम्भव नहीं है। वह शरीरमें स्थित होते हुए भी भोगोंसे लिप्त नहीं होता—

'शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥'

(गीता १३। ३१)

जैसे संसार निरन्तर मिट रहा है, ऐसे ही उसका आकर्षण भी निरन्तर मिट रहा है। उत्पन्न होनेवाली यावन्मात्र वस्तु मिटती है—यह नियम है। अतः उसको रखनेका प्रयत्न करना भी भूल है और उसको मिटानेका प्रयत्न करना भी भूल है! इसलिये साधकको चाहिये कि वह उस आकर्षणको महत्त्व न दे, प्रत्युत उसकी उपेक्षा (बे-परवाह) कर दे। उपेक्षा करनेसे वह अपने-आप मिट जायगा। जैसे, पानीमें मिट्टी मिली हुई हो तो हम ज्यों-ज्यों हाथसे मिट्टीको थपकाकर नीचे बैठानेका प्रयत्न करेंगे, त्यों-ही-त्यों मिट्टी ऊपर आयेगी। अगर हम पानी और मिट्टीको बिलकुल न छेड़ें तो मिट्टी अपने-आप नीचे बैठ जायगी। ऐसे ही परिश्रम आदि कुछ करनेसे संसारका आकर्षण नहीं मिटेगा। उसकी उपेक्षा करके चुप हो जायँ तो वह अपने-आप मिट जायगा और शुद्ध स्वरूप रह जायगा; क्योंकि मिटना संसारका स्वभाव है और शुद्ध रहना स्वयंका स्वभाव है—

ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुख रासी ॥

(मानस ७। ११७। १)

मेरेमें आकर्षण है और वह मिटता नहीं है—इस भावसे ही भोगोंका आकर्षण टिका हुआ है। कारण कि हम सब सत्यसंकल्प परमात्माके साक्षात् अंश हैं और परमात्मरूपी कल्पवृक्षके नीचे हैं; अतः हम जैसा भाव रखेंगे, वैसा ही हो जायगा। इसलिये 'आकर्षण मेरेमें नहीं है'—यह भाव आकर्षणको मिटानेका रामबाण उपाय है; क्योंकि यह वास्तविकता है और वास्तविकताको दृढ़तासे स्वीकार करना साधकका कर्तव्य है।

मन-बुद्धि और संसार (विषय)—दोनों एक ही जातिके हैं। इसलिये मन-बुद्धिका अपनी ही जातिके संसारकी तरफ आकर्षण हो रहा है तो इससे अपनी सत्तामें क्या फर्क पड़ा? अतः साधकको चाहिये कि वह मन-बुद्धि तथा उसमें रहनेवाला आकर्षण—दोनोंको छोड़कर स्वयंमें स्थित रहे—**'मद्रूप उभयं त्यजेत्'** (श्रीमद्भा० ११। १३। २६)*।

४. *निषेधात्मक साधन*

साधन दो तरहका होता है—निषेधात्मक और विध्यात्मक। विवेक निषेध करता है और करण (क्रिया) विधि करता है। अतः निषेधात्मक साधन विवेकप्रधान अर्थात् 'करणनिरपेक्ष' होता है और विध्यात्मक साधन क्रियाप्रधान अर्थात् 'करण-सापेक्ष' होता है। परमात्मतत्त्व वास्तवमें करणनिरपेक्ष है†। अतः उसकी प्राप्ति निषेधात्मक साधनसे तत्काल होती है, जब कि विध्यात्मक साधनसे उसकी प्राप्तिमें देरी लगती है। निषेधात्मक साधन करनेवाला योगभ्रष्ट भी नहीं होता; क्योंकि निषेधात्मक साधनमें असत्, नाशवान्‌का तत्काल निषेध हो जाता है। परंतु विध्यात्मक साधन करनेवाला योगभ्रष्ट हो सकता है; क्योंकि विध्यात्मक साधनमें असत्‌का सहारा लेना पड़ता है। अतः उसमें असत् (मन-बुद्धि-अहम्) की सत्ता बहुत दूरतक साथ रहती है।

परमात्मतत्त्वको विधिरूपसे कभी प्राप्त नहीं कर सकते, प्रत्युत निषेधरूपसे ही प्राप्त कर सकते हैं। कारण कि परमात्मतत्त्व नित्यप्राप्त है। नित्यप्राप्तके अनुभवमें अप्राप्त संसारसे माना हुआ सम्बन्ध ही बाधक है। नित्यप्राप्त

* इस विषयको विस्तारसे समझनेके लिये गीताप्रेससे प्रकाशित 'सहज साधना' पुस्तकका पहला लेख और 'नित्ययोगकी प्राप्ति' पुस्तकका तेरहवाँ एवं चौदहवाँ लेख विशेषरूपसे पढ़ने चाहिये।

† परमात्मतत्त्वके विशेषण दो तरहसे कहे गये हैं—निषेधात्मक और विध्यात्मक। अक्षर, अव्यक्त, अचिन्त्य, अचल, अव्यय, अविनाशी आदि विशेषण 'निषेधात्मक' हैं और सर्वव्यापी, कूटस्थ, ध्रुव, सत्, चित्, आनन्द आदि विशेषण 'विध्यात्मक' हैं। वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो परमात्माके विध्यात्मक विशेषणोंका तात्पर्य भी निषेधात्मक ही है; जैसे—परमात्माको 'सत्' कहनेका तात्पर्य है कि वे 'असत्' नहीं हैं; 'सर्वव्यापी' कहनेका तात्पर्य है कि वे 'एकदेशीय' नहीं हैं आदि।

परमात्मतत्त्वका अन्वेषण होता है और अप्राप्त संसारका निर्माण होता है। अन्वेषणमें निषेधात्मक साधन चलता है और निर्माणमें विध्यात्मक साधन चलता है। अतः परमात्मतत्त्वका अनुभव संसारके सम्बन्धका निषेध (त्याग) करनेसे होता है। सबका निषेध करनेपर जो शेष रहता है, वही परमात्मतत्त्व है। तात्पर्य है कि असत्‌का निषेध (त्याग) करनेपर सत्-तत्त्वकी विधि (स्थापना) करनेकी आवश्यकता नहीं रहती। इसलिये संत लोग संसारका त्याग करते हुए परमात्मतत्त्वकी खोज करते हैं—

'अतत्त्यजन्तो मृगयन्ति सन्तः'

(श्रीमद्भा० १०। १४। २८)

न कर्मसे, न संतानसे, न धनसे, प्रत्युत केवल त्यागसे ही संतोंने अमरत्व प्राप्त किया है—

'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः'

(कैवल्य० १। २)

त्यागसे तत्काल परमशान्ति प्राप्त होती है—

'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्' (गीता १२। १२)

पारमार्थिक उन्नतिमें त्याग ही मुख्य है। हिरण्यकशिपु, रावण आदि असुरों-राक्षसोंमें भी तपस्या आदि नियम (विधि) तो मिलते हैं, पर त्याग (निषेध) नहीं मिलता। त्याग केवल परमात्मप्राप्ति चाहनेवालोंमें ही मिलता है। इसलिये नियमोंके पालनकी अपेक्षा अहिंसादि यमोंके पालनको श्रेष्ठ बताया गया है—

यमानभीक्ष्णं सेवेत नियमान् मत्परः क्वचित्।

(श्रीमद्भा० ११। १०। ५)

करणनिरपेक्ष साधनमें करणोंका त्याग (सम्बन्ध-विच्छेद) है। करणसापेक्ष साधनमें भी अन्तमें करणोंका त्याग होनेसे ही तत्त्वप्राप्ति होती है। त्याग करण (जड़)का ही होता है, तत्त्वका नहीं। कारण कि त्याग उसीका होता है, जो स्वतः हमारा त्याग कर रहा है अर्थात् जिससे हमारी एकात्मता नहीं है। तात्पर्य है कि नित्यप्राप्तकी ही प्राप्ति होती है और अप्राप्तका ही निषेध होता है। 'है'की ही प्राप्ति होती है और 'नहीं'की ही निवृत्ति होती है। 'है' सदा स्वतः प्राप्त है ही और 'नहीं' सदा स्वतः निवृत्त है ही!

'परमात्मतत्त्व है'—ऐसा मानना भी वास्तवमें 'संसार नहीं है'—इस प्रकार संसारका निषेध करनेके लिये ही है। इसी तरह 'मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं'—इसका तात्पर्य भी वास्तवमें 'मैं संसारका नहीं हूँ और संसार मेरा नहीं है'—इस प्रकार संसारका निषेध करनेमें ही है। यह भक्तिकी विशेषता है कि अनन्यभावपूर्वक 'मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं'—इस प्रकार विधिमुखसे माने हुए साधनको भी भगवान् कृपा करके सिद्ध कर देते हैं* अर्थात् भक्तका अनन्यभाव पूर्ण कर देते हैं, अभावरूप संसारका सदाके लिये अभाव कर देते हैं। तात्पर्य है कि भक्त अहम्‌को बदलता है और भगवान् उसके अहम्‌को मिटा देते हैं†।

जबतक निषेध नहीं होता, तबतक विधिकी सिद्धि नहीं होती। मीराबाईने कहा है—***'मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई'*** तो इसमें ***'दूसरो न कोई'***—यह निषेध है। इस निषेधसे ऐसी सिद्धि हुई कि उनका शरीर भी चिन्मय होकर भगवान्‌के विग्रहमें लीन हो गया! कारण कि जड़ताकी निवृत्ति होनेपर चिन्मयता ही शेष रहती है। ***'मेरे तो गिरधर गोपाल'***—ऐसा तो बहुत-से मनुष्य मानते हैं, पर इससे भगवान्‌की प्राप्ति नहीं हो जाती। अगर इसके साथ ***'दूसरो न कोई'***—ऐसा भाव नहीं होगा तो संसारके अन्य सम्बन्धोंकी तरह भगवान्‌का भी एक और नया सम्बन्ध हो जायगा! अगर 'मेरा कोई नहीं है'—इस तरह सर्वथा निषेध हो जाय तो बोध हो जायगा। बोध होते ही नित्यप्राप्तकी प्राप्ति हो जायगी। कारण कि जबतक दूसरी सत्ताकी मान्यता है, तभीतक विवेक है। दूसरी सत्ताकी मान्यता न रहे तो वह तत्त्वबोध ही है।

'योग' निषेधमें ही होता है—

---

* अन्यके निषेधका उद्देश्य होनेसे ही 'अनन्यभाव' होता है। अतः 'मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं'—इस विधिमें भी (अनन्यभाव होनेके कारण) अन्यके निषेधकी ही मुख्यता है।

† तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः। नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥ (गीता १०। ११)

'उन भक्तोंपर कृपा करनेके लिये ही उनके स्वरूप (होनेपन) में रहनेवाला मैं उनके अज्ञानजन्य अन्धकारको देदीप्यमान ज्ञानरूप दीपकके द्वारा सर्वथा नष्ट कर देता हूँ।'

'तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।'

(गीता ६।२३)

'जिसमें दुःखोंके संयोगका वियोग (संसारका निषेध) है, उसीको 'योग' नामसे जानना चाहिये।'

परंतु **'समत्वं योग उच्यते'** (गीता २।४८) 'समताको योग कहा जाता है'—यह विधि है। जो संसारकी सत्ता मानते हैं, उनको संसारमें विषमता दीखती है। इसलिये उनकी दृष्टिको विषम संसारसे हटाकर समरूप परमात्माकी तरफ करनेके लिये **'समत्वं योग उच्यते'** कहा गया है। विधिमें करण साथमें रहता है, इसीलिये समतामें अन्तःकरणकी स्थिति बतायी गयी है—**'येषां साम्ये स्थितं मनः'** (गीता ५।१९)।

विधिमें 'मैं-पन' साथमें रहनेसे साधन सिद्ध होनेमें देरी लगती है। जैसे, 'मैं ब्रह्म हूँ'—यह विधि है। यह अहंग्रह उपासना है, बोध नहीं। कारण कि मैंपनमें ब्रह्म नहीं है और ब्रह्ममें मैंपन नहीं है। अतः मैंपन केवल कल्पना है। ब्रह्मका तो अनुभव है और संसारकी प्रतीति है; परंतु मैंपनका न अनुभव है, न प्रतीति है, प्रत्युत यह केवल अज्ञानीकी मान्यता है—

'अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥'

(गीता ३।२७)।

प्रकृति और प्रकृतिका कार्यमात्र प्रकाश्य है और परमात्मा प्रकाशक हैं। प्रकाश्य और प्रकाशक—इन दोनोंमें ही मैंपन नहीं है, फिर मैंपन कहाँ रहा? तात्पर्य है कि मैंपन केवल कल्पित है। अगर मैंपनका निषेध कर दिया जाय तो तत्काल सिद्धि हो जाती है—

'निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥'

(गीता २।७१)

विधिकी अपेक्षा निषेध श्रेष्ठ और बलवान् है। परंतु जिनके भीतर उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंका महत्त्व है, उनको निषेध मुख्य नहीं दीखता, प्रत्युत विधि मुख्य दीखती है कि अमुक आदमीने इतना दान किया, इतने तीर्थ किये, इतने व्रत-उपवास किये आदि। इसलिये वे विधिको तो ग्रहण करते हैं, पर निषेधको टाल देते हैं। उनकी यह मान्यता रहती है कि विधि करनेसे ही उन्नति होगी। वास्तवमें निषेधकी जितनी आवश्यकता है, उतनी विधिकी आवश्यकता नहीं है। विधि करनेमें कमी रह सकती है, पर निषेध करनेमें विधि स्वतःसिद्ध हो जाती है तथा उसमें कोई कमी भी नहीं रहती। जैसे, सत्य बोलना विधि है और झूठ न बोलना निषेध है। सत्य बोलनेवाला कभी झूठ भी बोल सकता है, पर झूठ न बोलनेवाला या तो सत्य बोलेगा अथवा चुप रहेगा। सत्य बोलनेका तो महत्त्व दीखता है, पर झूठ न बोलनेका उतना महत्त्व नहीं दीखता। इसलिये सत्य बोलनेसे 'मैं सत्यवादी हूँ' ऐसा अहंकार आ सकता है, पर झूठ न बोलनेसे अहंकार आ ही नहीं सकता। इतना ही नहीं, मौनकी अपेक्षा भी झूठ न बोलना श्रेष्ठ है; क्योंकि मौन रहनेवाला जब कभी बोलेगा, तब झूठ भी बोल सकता है, पर झूठ न बोलनेवाला जब कभी बोलेगा, सत्य ही बोलेगा। तात्पर्य है कि विधिमें अर्थात् अपने उद्योगसे किये गये साधनमें अहंकार ज्यों-का-त्यों बना रहता है; क्योंकि उद्योग अहंकारपूर्वक ही होता है। कर्ता (करनेवाला) रहेगा, तभी तो उद्योग होगा! यद्यपि निषेधमें भी अहंकार (निषेध करनेवाला) रहता है, तथापि साधकमें अहंकारके त्यागका ही उद्देश्य रहनेसे वह बाँधनेवाला नहीं होता। जिसका साधन विवेकप्रधान होता है, उसमें निषेधका अहंकार टिक ही नहीं सकता।

भलाई करना विध्यात्मक साधन है और बुराईका त्याग करना निषेधात्मक साधन है। भलाई करनेसे कहीं-न-कहीं बुराई रह सकती है, पर बुराई न करनेसे भलाई सर्वथा आ जाती है। कारण कि भलाई असीम है। कितनी ही भलाई करें, पर वह बाकी रहेगी ही। भलाई करनेसे भलाईका अन्त नहीं आता, पर बुराई न करनेसे बुराईका अन्त आ जाता है। तात्पर्य है कि भलाई करनेसे भलाई बाकी रहती है, पर बुराई न करनेसे भलाई बाकी नहीं रहती।

'करना' सीमित और 'न करना' असीम होता है। अतः भलाई करनेसे सीमित भलाई होती है और बुराई न करनेसे असीम भलाई होती है। तात्पर्य है कि भलाई स्वतःसिद्ध है और बुराई आगन्तुक है। परंतु जब हम बुराईको स्वीकार करके भलाई करते हैं अर्थात् भलाईको कृतिसाध्य मानते हैं, तब हमारे द्वारा पूरी भलाई नहीं होती। बुराईको स्वीकार न करनेसे भलाई अपने-आप होती है, करनी नहीं पड़ती, अपने-आप होनेवाला साधन असली होता है और जो साधन किया जाता

है, वह नकली होता है तथा उसके साथ अभिमान रहता है। अगर हम बुराईका त्याग कर दें तो भलाई न करनेपर भी हम अपने-आप भले आदमी हो जायँगे।

अगर हम बुराईका त्याग कर दें अर्थात् किसीका बुरा न करें, किसीका बुरा न सोचें, किसीकी बुराई न देखें, किसीकी बुराई न सुनें, किसीकी बुराईकी चर्चा न करें तथा किसीको स्वरूपसे कभी किंचिन्मात्र भी बुरा न समझें तो ऐसा करनेपर दो बातें होंगी—हम कुछ नहीं करेंगे अथवा कुछ करेंगे तो भलाई ही करेंगे। दोष तो करनेसे ही आता है। हम कुछ नहीं करेंगे तो दोष कैसे आयेगा ? क्योंकि कुछ न करनेसे प्रकृतिका सम्बन्ध नहीं रहता तथा स्वतःसिद्ध निर्दोष-स्वरूपमें स्वतःस्थिति हो जाती है। इसलिये भलाई करनेकी अपेक्षा बुराई न करना श्रेष्ठ है।

तन कर मन कर वचन कर, देत न काहू दुःख।
तुलसी पातक हरत है, देखत उनका मुख॥

मूलमें हमें असत्का ही त्याग करना है, सत्को प्राप्त नहीं करना है; क्योंकि सत् स्वतःसिद्ध प्राप्त है। असत्का त्याग होनेपर सत् ही शेष रहता है, असत् शेष नहीं रहता। अतः हम असत्का त्याग करेंगे तो सत्कर्म, सच्चर्चा, सच्चिन्तन और सत्संग स्वतः होंगे, करने नहीं पड़ेंगे।

सत्से अलग कोई हो ही नहीं सकता और असत्के साथ कोई रह ही नहीं सकता। परंतु जब हम सत्को प्राप्त करनेका उद्योग करते हैं, तब असत् (इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि) का सहारा लेना ही पड़ता है। कारण कि असत्की सहायताके बिना उद्योग हो ही नहीं सकता। असत्का सहारा रहनेपर सीमित साधन होता है। जैसे हाथसे दीवारको नहीं पकड़ सकते, ऐसे ही सीमित साधनसे असीम तत्त्वको नहीं पकड़ सकते। असत्का त्याग (अस्वीकृति) करनेपर सत्की प्राप्ति स्वतः हो जाती है; क्योंकि वह स्वतःप्राप्त है। त्याग उसीका होता है, जो सदासे ही त्यक्त है और प्राप्ति उसीकी होती है, जो सदासे ही प्राप्त है—**'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।'** (गीता २।१६)। साधकका काम केवल इतना है कि वह विवेक-पूर्वक असत्का संग न करे, असत्को स्वीकार न करे।

५. *अहंता-ममताका निषेध*

करणनिरपेक्ष साधनमें सत्-असत्के विवेककी मुख्यता होनेसे अहम्का नाश जल्दी और सुगमतासे हो जाता है; क्योंकि अहम् भी असत् (जड़) ही है। गीताने पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहम्—इन आठोंको अपरा (जड़) प्रकृति कहा है*। ऐसा कहनेका तात्पर्य यह है कि जैसे पृथ्वी जड़ और जाननेमें आनेवाली है, ऐसे ही अहम् भी जड़ और जाननेमें आनेवाला है। अतः गीताने अहम्को इदंतासे कहा है; जैसे—**'अहंकार इतीयम्'** (७।४) और **'अपरा इयम्'** (७।५)। **'इदम्'** (यह) कभी **'अहम्'** (मैं) नहीं होता; अतः अहम्को इदंतासे कहनेका तात्पर्य है कि यह अपना स्वरूप नहीं है। परंतु जब चेतन (जीव) इस अहम्के साथ अपना सम्बन्ध मान लेता है, तब वह बँध जाता है।

अहम्के सम्बन्धसे परिच्छिन्नता पैदा होती है और परिच्छिन्नतासे सम्पूर्ण भेद पैदा होते हैं। भेदोंमें मैं-मेरेका भेद मुख्य है, जिसको अहंता और ममता नामसे कहा गया है। मैं-मेरेका भेद आठ प्रकारका है—मैं और मेरा, तू और तेरा, यह और इसका, वह और उसका। मैं, तू, यह, वह—ये चारों अहंताके रूप हैं और मेरा, तेरा, इसका, उसका—ये चारों ममताके रूप हैं।

मैं, तू, यह और वह—ये चारों ही एक-दूसरेकी दृष्टिमें चारों बन सकते हैं। जैसे—राम, श्याम, गोविन्द और

---

* भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च। अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥ (गीता ७।४)

पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहम्—इन आठोंमें जातीय एकता तो है, पर स्वरूपकी एकता नहीं है अर्थात् जाति एक होनेपर भी इनका स्वरूप अलग-अलग है [एक अनेकमें अनुगत हो तो उसको जाति कहते हैं]। परंतु सत्तामें स्वरूपकी एकता है। अतः सत्ता तो एक है, पर करण एक नहीं है। सत्तामें भेद सम्भव नहीं है और करणोंमें एकता सम्भव नहीं है। कुछ दार्शनिक सत्तामें (जीव तथा ईश्वरका) भेद मानते हैं और कुछ नहीं मानते। जैसे, जबतक सायुज्य मुक्ति न हो, तबतक वैष्णव दार्शनिक सत्तामें भेद मानते हैं। दार्शनिकोंमें यह मतभेद भी तभीतक है, जबतक सूक्ष्म अहम् है। अहम् न रहनेसे सब दार्शनिक एक हो जाते हैं अर्थात् अहम्का नाश होनेपर दार्शनिक नहीं रहते, प्रत्युत दर्शन (तत्त्व) रहता है।

गोपाल—ये चार व्यक्ति हैं। राम और श्याम एक-दूसरेके सामने हैं, गोविन्द उनके पास है और गोपाल उनसे दूर है। राम अपनेको 'मैं' कहता है, अपने सामनेवाले श्यामको 'तू' कहता है, पासवाले गोविन्दको 'यह' कहता है और दूरवाले गोपालको 'वह' कहता है। अगर श्याम अपनेको 'मैं' कहे तो वह रामको 'तू' कहेगा, गोविन्दको 'यह' कहेगा और गोपालको 'वह' कहेगा। अगर गोविन्द अपनेको 'मैं' कहे तो वह श्यामको 'यह' कहेगा और रामको 'तू' कहेगा अथवा श्यामको 'तू' और रामको 'यह' कहेगा तथा गोपालको 'वह' कहेगा। अगर गोपाल अपनेको 'मैं' कहे तो वह राम, श्याम और गोविन्द—तीनोंको 'वह' कहेगा। इस प्रकार राम, श्याम, गोविन्द और गोपाल—ये चारों ही एक-दूसरेकी दृष्टिमें मैं, तू, यह और वह बन सकते हैं। इन चारोंमें 'मैं' सबसे कमजोर है। कारण कि एक व्यक्तिको हजारों-लाखों आदमी तू, यह और वह कह सकते हैं, पर 'मैं' अकेला वही एक व्यक्ति कह सकता है!

मैं-मेरा ही माया है, जिसके त्यागपर सबने विशेष जोर दिया है*। परंतु स्वरूप मायारहित है। स्वरूपमें 'मैं' और 'मेरा'—दोनों ही नहीं हैं। वह 'मैं' और 'मेरा'—दोनोंका प्रकाशक है, आश्रय है, आधार है, अधिष्ठान है। अतः स्वतःसिद्ध विवेकके द्वारा मैं और मेराको छोड़कर उसके प्रकाशक, आश्रय, आधार, अधिष्ठानमें स्थित होना (जो कि पहलेसे ही है) करणनिरपेक्ष साधन है।

(क्रमशः)

शङ्ख और घण्टा-ध्वनिसे रोगोंका नाश

१९२८ ई०में बर्लिन विश्वविद्यालयने शङ्ख-ध्वनिका अनुसंधान करके यह सिद्ध कर दिया है कि शङ्ख-ध्वनिकी लहरें बैक्टीरियाको नष्ट करनेके लिये उत्तम एवं सस्ती औषध है। प्रति सेकेंड सत्ताईस घनफुट शक्तिके जोरसे बजाया हुआ शङ्ख २२०० फुट दूरीके बैक्टीरियाको नष्ट कर डालता है और २६०० फुटकी दूरीतक इस ध्वनिसे वे मूर्च्छित हो जाते हैं।

बैक्टीरियाके अलावा इससे हैजा, गर्दन, मलेरियाके कीटाणु भी नष्ट हो जाते हैं और ध्वनि जहाँसे की जाती है, उस स्थान तथा पासका स्थान निःसंदेह कीटाणुरहित हो जाता है।

मिरगी, मूर्च्छा, कण्ठमाला और कोढ़के रोगियोंके अंदर शङ्खध्वनिकी प्रक्रिया होती है और वह रोगनाशक होती है।

शिकागोके डॉ० डी ब्राइनने अबतक तेरह सौ बहरे रोगियोंको शङ्ख-ध्वनिके माध्यमसे ठीक किया है।

अफ्रीकाके निवासी घण्टाको ही बजाकर जहरीले सर्पके काटे हुए मनुष्यको ठीक करनेकी प्रक्रियाको पता नहीं कबसे आजतक करते चले आ रहे हैं।

जैसे ही पता चला है कि मास्को सेनिटोरियममें घण्टा-ध्वनिसे तपेदिक रोगोंको ठीक करनेका प्रयोग सफलतापूर्वक चल रहा है, इसके विरोधमें एक दावा अदालतमें पेश हुआ—'इसकी ध्वनिके कारण मेरा स्वास्थ्य निरन्तर गिरता जा रहा है तथा इससे मेरी काफी शारीरिक क्षति होती है।'

इस बातपर ही अदालतने तीन प्रमुख वैज्ञानिकोंको घण्टा-ध्वनिकी जाँचके लिये नियुक्त किया। यह परीक्षण लगातार सात महीनोंतक चला और वैज्ञानिक बोर्डने यह घोषित किया कि घण्टाकी ध्वनिसे तपेदिक रोग ठीक होता है। तपेदिकके अलावा इससे कई शारीरिक कष्ट भी दूर होते हैं तथा मानसिक उत्कर्ष भी होता है। (संकलन—सरयूदेवी लोया)

*१. मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहिं बस कीन्हे जीव निकाया॥ (मानस ३।१५।१)

२. मैं मेरे की जेवरी, गल बँध्यो संसार। दास कबीरा क्यों बँधे, जाके राम अधार॥

गीतामें भी भगवान्‌ने तीनों योगोंमें अहंता-ममताका त्याग बताया है; जैसे—कर्मयोगमें 'निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति' (२।७१), ज्ञानयोगमें 'अहंकारं……विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते' (१८।५३) और भक्तियोगमें 'निर्ममो निरहंकारः……यो मद्भक्तः स मे प्रियः' (१२।१३-१४)। कर्मयोगमें निर्मम-निरहंकार होनेसे परमशान्तिकी प्राप्ति हो जाती है, ज्ञानयोगमें निर्मम-निरहंकार होनेसे ब्रह्ममें स्थिति हो जाती है और भक्तियोगमें निर्मम-निरहंकार होनेसे परमप्रेमकी प्राप्ति हो जाती है।

गीता-सुधातरङ्गिणी

[साधक-संजीवनीके आधारपर]

पंद्रहवाँ अध्याय

दो०—नमो देव बसुदेव सुत मर्दन चानुर कंस।
देवकि परमानंदप्रद जग गुरुबर जदुबंस ॥ १ ॥
सुनि चवदह अध्याइ अब अचरज मोकहुँ आइ।
अव्यभिचारिनि भक्ति तें गुनातीत पद पाइ ॥ २ ॥
जो अबिनासी ब्रह्म पर ताहि तुम्हहिं आधार।
कवन सक्ति अस जाहिपर थिर दरसहिं संसार ॥ ३ ॥
पुनि प्रभु अनन्य भक्ति निज बरनन करि जदुराइ।
जगत जीव अरु ईस कर मरम कहहु समुझाइ ॥ ४ ॥
सो०—नमो कृष्ण भगवान श्रीमुरलीधर तोत्रधर।
करउ बिस्व कल्याण कृपाबृष्टि करि सृष्टि पर ॥ ५ ॥
चौ०-बंदउँ गनपति सारद माता। हरि हर गुरु पद सीस नवाता ॥
मातु पिता स्वामी हितु मेरे। सखा सुहद साथी नित नेरे ॥
बोले कृष्णचंद्र भगवाना। सुनहु पार्थ मम सखा सुजाना ॥
यह अस्वत्थ रूप जग सारा। ऊपर मूल तले बिस्तारा ॥
थिर न रहइ निसि बासर बहई। पुनि-पुनि उपजत पुनि-पुनि ढहई ॥
सतत प्रवाह रूप नित रहई। बेद सास्त्र अव्यय अस कहई ॥
दो०—कर्मकाण्ड श्रुतिबिदित सब एहि तरुवर कर पात।
जे सकाम सुख भोग रत कुसुमित ताहि लखात ॥ ६ ॥
चौ०-समुझइ जो जथार्थ एहि ताता। सोइ नर बेद तत्त्व कर ग्याता ॥
बिषय सकल कोंपल समुदाई। बाढ़इ सतत त्रिगुन जल पाई ॥
तल बिच ब्रह्मलोक लगि साखा। फैलि रहइ चहुँदिसि जग आखा ॥
बाँधइ मनुज कर्म अनुसारी। ब्यापि रहहिं जग जीव अपारी ॥
जस सुन्दर सत रूप लखाहीं। करइ विचार मिलत कछु नाहीं ॥
आदि न अंत न थिति दरसाई। सुख लोलुप नर देखि लोभाई ॥
अहँ मम काम अथक अधारा। काटि असँग दृढ़ लेइ कुठारा ॥
सुख बासना मूलतें त्यागी। खोजइ सतत परमपद लागी ॥
जहाँ जाइ पुनि लौटि न आवा। आदि पुरुष ईस्वर कहलावा ॥
दो०—जातें उपजइ सृष्टि यह ताहि सरन महुँ जाइ।
मान मोह आसक्ति तजि थिति नित ब्रह्म लखाइ ॥ ७ ॥
तजइ सकल जग कामना सुख दुख द्वंद्व मिटाइ।
ते ग्यानी सत पात्र नर पद अबिनासी पाइ ॥ ८ ॥
चौ०-पाइ परमपद अस अबिनासी। जो सब जगकर परम प्रकासी ॥
रबि ससि पावक बिपुल उजासा। कोरि न सकहिं सब ताहि प्रकासा ॥
जासु पाइ पुनि लौटि न आवा। परमधाम मम सोइ कहावा ॥
पार्थ जीव मम अंस सनातन। खेंचहिं प्रकृति जनित इंद्रिय मन ॥
जा बिधि पवन गंध गहि धाई। ता बिधि जीव छाँडि तन जाई ॥
लै इंद्रिन्ह मन संग उड़ाई। दूसर तन महुँ जाइ समाई ॥
तब मन इंद्रिन्ह कर बस होई। सेवहिं विषय राग जुत सोई ॥
एक लखहु बड़ अचरज भारी। तिन्हकर महिमा अकथ अपारी ॥
दो०—जन्मत मरत त्रिगुनन्ह थित बिचरत बिषयन्ह सोइ।
निज सरूप तजि आतमा लिप्त कबहुँ नहिं होइ ॥ ९ ॥
चौ०-ग्यान बिहीन बिषय रत होई। मूढ़ पुरुष नहिं जानइ कोई ॥
जानइ ग्यान नेत्र जुत ग्यानी। जे बिबेक जुत गत अभिमानी ॥
जतन करत जेहि जानहिं जोगी। नहिं जानत सुख लोलुप भोगी ॥
जो अंतस निरमल नहिं होई। जतन करत नहिं जानइ कोई ॥
रबि ससि वृक गत तेज अपारा। करत प्रकासित सब संसारा ॥
जानहु सकल तेज मम सोई। जातें दूरि सकल भ्रम होई ॥
करउँ प्रबेस धरनि उर अंतर। धारन करउँ जीव सचराचर ॥
चंद्र होइ अमरित बरसावउँ। बन औषध कहुँ पुष्ट बनावउँ ॥
दो०—तन महुँ प्रान अपान जुत जठर अगनि बनिजाउँ।
चारि भाँति कर अन्न कहुँ सब तनु माहिं पचाउँ ॥ १० ॥
चौ०-सबकर हृदय सदा मम बासा। करउँ अपोहन सुरति प्रकासा ॥
मोतें बेद प्रगट है चारा। हौं सबहिन्ह महँ जाननि हारा ॥
दोउ भाँतिन्ह जग पुरुष कहावा। छर अरु अच्छर भेद बतावा ॥
छर छनभंगुर देह बिनासी। अच्छर जीव रूप अबिनासी ॥
उभय ताहि महँ उत्तम रासी। परमातमा सकल उर बासी ॥
सोइहि मैं अच्छर ते उत्तम। छर तें हौं अतीत पर सूछम ॥
तातें लोक बेद मोहि गावइ। पुरुषोत्तम परसिद्ध बतावइ ॥
दो०—पुरुषोत्तम मोकहुँ लखइ ते बुधजन सर्वग्य।
भजहिं मोहि सब भावजुत कबहुँ रहत नहिं अग्य ॥ ११ ॥
गोपनीय अति सास्त्र अस कथन कियउँ मैं पार्थ।
ग्यानवान लखि होहिं नर होइहिं सोइ कृतार्थ ॥ १२ ॥
पुरुषोत्तम अध्याइ कहुँ समुझहु सज्जनबृंद।
सतत रहउ हरि के सरन पावहु परमानंद ॥ १३ ॥

[अनु०—एक जिज्ञासु]

साधनोपयोगी पत्र

(१)

वैराग्यका भ्रम

आपका कृपापत्र मिला। आप लिखते हैं—'मुझे घरसे वैराग्य हो गया है, घरमें माता-पिता, भाई-बहिन, स्त्री-बालक सभी हैं, परंतु किसीमें मन नहीं अटकता, उनसे मनका मेल ही नहीं खाता। सबसे नफरत-सी हो चली है। चाहता हूँ—संसार-त्यागकर वनमें चला जाऊँ। परंतु कठिनता यह है कि शरीरके सुख और आरामकी इच्छा अभी बनी हुई है। कभी-कभी पाप-भावना भी मनमें आ जाती है। काम-क्रोध तो हैं ही। शारीरिक तकलीफ सहन नहीं होती। यहाँ तो कुछ-कुछ लोग सेवा भी करते हैं। दुःख तो यह है कि मुझसे भगवान्‌का भजन भी नहीं होता। चित्तमें उचाट-सी रहती है कि कहीं भाग जाऊँ। न घर सुहाता है, न कहीं भागते ही बनता है। चित्त शान्त नहीं है। बताइये क्या करूँ?'

आपने अपनी सच्ची हालत लिख दी, कुछ छिपाया नहीं, इससे मालूम होता है, आपका हृदय बड़ा सरल है और सरल हृदय साधना करनेपर बहुत ही शीघ्र भगवान्‌का निवासस्थान बन सकता है। सच्ची बात तो यह है कि आपको वैराग्य नहीं हुआ है। वैराग्य होनेपर काम-क्रोध नहीं रह पाते। न सुख और आरामका ही खयाल रहता है। जब किसी विषयमें आसक्ति ही नहीं रही, तब कामना कहाँसे पैदा होती, और कामना न होनेपर क्रोध भी क्योंकर होता? आपने इस स्थितिको वैराग्य समझ लिया—यही आपकी भूल है। यह तो वस्तुतः आसक्तिका ही एक रूपान्तरमात्र है। आपको जो नफरत-सी हो चली है, घरवालोंके प्रति घृणा होती है, इसका कारण यही है कि आप उनसे जैसा और जितना सुख चाहते हैं, अपनी कामनाकी जितनी पूर्ति आप उनसे करवाना चाहते हैं, उतनी नहीं हो पाती। बल्कि कभी-कभी आपको ऐसा प्रतीत होता है कि ये लोग तो मेरे सुखके मार्गमें बाधक हैं, मेरे मनोरथके प्रतिकूल हैं। इसीसे आपहीके शब्दोंमें—उनसे 'आपके मनका मेल ही नहीं खाता।' इसीसे नफरत होती है। और आश्चर्यकी बात तो यही है कि इसको आपने वैराग्य मान लिया है। यह वैराग्य नहीं है, यह है झुँझलाहटभरी अकर्मण्यता, जो आपको कर्तव्यपथसे विमुख कर रही है। असलमें आप जिनसे घृणा करते हैं—उनको छोड़ना नहीं चाहते, उनको छोड़ते आपको दुःख होता है, क्योंकि उनमें आपकी सुदृढ़ आसक्ति है और आप उनको सर्वथा अपने अनुकूल तथा अपने सुखके साधक देखना चाहते हैं। इसीलिये चित्तमें उचाट है, इसीलिये अशान्ति है और इसीसे आपकी बुद्धि कर्तव्यका निर्णय करनेमें असमर्थ हो रही हैं। आप मेरी इन बातोंसे अपनी स्थितिका मिलान करके देखिये, मुझे विश्वास है मेरी धारणा अक्षरशः सत्य साबित होगी।

आप लिखते हैं—'भगवान्‌का भजन नहीं होता' और मैं कहता हूँ—भजन हुए बिना 'वैराग्य' हो ही नहीं सकता।

जब भजनमें रस मिलेगा और उससे भगवत्प्रेमका प्रादुर्भाव होगा तब विषयोंसे वैराग्य आप ही हो जायगा। फिर कोई मनोरथ भी अपूर्ण नहीं रह जायगा। आप जो कुछ भी चाहते हैं, सभी कुछ भगवान्‌में पूर्ण है। सारे सुख, सारा आराम, कामिनी-काञ्चन, कीर्ति, भोग, मोक्ष सभी कुछ उनमें हैं। उनको भूलकर—उनकी ओरसे लापरवाह रहकर, भजनमें चित्त न लगाकर जहाँ संसारको छोड़ने जायँगे, वहाँ संसार और भी जोरसे आपको जकड़ लेगा। यों भागनेसे बन्धनकी रस्सी टूटेगी नहीं, उसकी गाँठ और भी गहरी घुल जायगी, पक्की हो जायगी। अतएव पहले भगवान्‌में अनुराग कीजिये, फिर अपने-आप ही विषयोंमें विराग हो जायगा। श्रीमद्भागवतमें ब्रह्माजी कहते हैं—

न भारती मेऽङ्ग मृषोपलक्ष्यते
न वै क्वचिन्मे मनसो मृषा गतिः।
न मे हृषीकाणि पतन्त्यसत्पथे
यन्मे हृदौत्कण्ठ्यवता धृतो हरिः॥

(२।६।३३)

'हे प्रिय नारद! मैंने प्रेमपूर्ण और उत्कण्ठित हृदयसे भगवान्‌को हृदयमें धारण कर लिया है, इससे न तो कभी मेरी वाणी असत्यको लक्ष्य करके निकलती है, न कभी मनकी गति मिथ्याकी ओर होती है और न मेरी इन्द्रियाँ ही कभी असत्-मार्गपर जाती हैं।' मतलब यह कि भगवान्‌में मन लगनेपर असत्-विषयोंकी ओर मन जाता ही नहीं (यह याद रखना चाहिये कि एकमात्र भगवान् ही सत् हैं और सब असत्

हैं) यही असली वैराग्य है।

अतएव आप उसे वैराग्य न समझकर अपनी एक दुर्बलता समझिये और घरमें ही प्रतिकूलताको सानन्द सहते हुए भगवान्‌का भजन कीजिये। जबतक मनमें राग-द्वेष है, तबतक पूरी अनुकूलता कहीं भी नहीं मिलेगी। भगवान्‌ने गीता (३।३४) में कहा है—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥

'प्रत्येक इन्द्रियके विषयमें राग और द्वेष भरे हैं। इन राग-द्वेषके वशमें नहीं होना चाहिये। क्योंकि ये दोनों ही परमार्थ-धनके लुटेरे हैं।'

यह समझ रखिये कि राग-द्वेषके रहते अनुकूलताके साथ प्रतिकूलता भी रहेगी ही। वनमें ही क्यों, कहीं भी चले जायँ—मन तो आपके साथ ही जायगा न? फिर केवल स्थान बदलनेसे क्या होगा। जो तकलीफ यहाँ है, वही वहाँ भी रहेगी। बल्कि नयी जगहमें शारीरिक आराम न मिलनेपर और भी कष्टका अनुभव होगा। घरवाले कितने ही प्रतिकूल हों, आखिर आपके दुःखमें कुछ तो साथ देते ही हैं। सेवा भी करते ही हैं। यह आपने भी स्वीकार किया है। अलग जानेपर यह भी नहीं मिलेगा। एक बात यह भी विचारणीय है कि जब आपको उनकी बातें प्रतिकूल मालूम होती हैं, तब निश्चय ही आपके विचार उनके प्रतिकूल हैं। और जब वे लोग अपने प्रतिकूल विचारवाले आपको अपने साथ रखना चाहते हैं और समय-समयपर आपकी सेवा करते हैं तब आपको तो और भी नम्र होना चाहिये तथा उनके प्रतिकूल विचारोंको आनन्दके साथ सहकर उन्हें सुख पहुँचानेकी चेष्टा करनी चाहिये।

साथ ही यह भी सत्य है कि यहाँ जो कुछ भी सुख-दुःख आपको मिलता है यह आपके ही पूर्वकृत कर्मोंका फल है और भगवान्‌ने आपके कल्याणके लिये इसका मङ्गल-विधान किया है। इसके भोगसे आपका प्रारब्ध क्षय होता है, और यदि इसे भगवान्‌का विधान मानकर सिर चढ़ावें तो भगवान्‌की कृपा प्राप्त होती है। इसलिये मेरी तो यही सलाह है कि सहनशील बनकर घरमें रहिये, घरको भगवान्‌का मन्दिर और घरवालोंको भगवत्स्वरूप जानकर उनकी यथायोग्य सेवा कीजिये तथा श्रीभगवान्‌की कृपापर विश्वास करके उनके पवित्र नामका जाप करते हुए उनके दिये हुए जीवनको उन्हींको समर्पण करके आनन्दसे संसार-यात्रा पूरी कीजिये। आप निश्चय समझिये, जब आपको उनकी याद बनी रहने लगेगी, तब आपके सारे पाप-संताप, आसक्ति-कामना, विरक्ति-अशान्ति, मोह-भय अपने-आप ही भाग जायँगे। उस समय आप स्वतः ही सच्चे वैराग्यको प्राप्त होकर परम सुखी हो जायँगे। शेष भगवत्कृपा!

(२)

भगवान्‌की शरणमें ही जीवनकी सफलता

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। यह सत्य है—संसारमें किसी भी वस्तु, स्थिति या प्राणि-पदार्थमें शान्ति नहीं है। पर हम इन्हींसे शान्तिकी आशा रखते हैं, तब बताइये, शान्ति कैसे मिले। संसारके प्राणि-पदार्थोंकी ममता, उनकी कामना और उनकी आसक्ति तो निरन्तर काम-क्रोधादिका ही आश्रय दिलायेंगी, जो हमारे लिये दुःखोंकी परम्परा उत्पन्न कर देगा। इन काम-क्रोधादिके परायण होकर, इनके वशमें होकर, इनका आज्ञाकारी गुलाम बनकर मनुष्य क्या-क्या नहीं करता, पर ये कभी उसको सन्मार्गपर आने ही नहीं देते। एक साधकने इनसे घबराकर भगवान् श्रीकृष्णसे शरणकी प्रार्थना करते हुए कहा है—

कामादीनां कति न कतिधा पालिता दुर्निदेशा-
स्तेषां जाता मयि न करुणा न त्रपा नोपशान्तिः।
उत्सृज्यैतानथ यदुपते साम्प्रतं लब्धबुद्धि-
स्त्वामायातः शरणमभयं मां नियुङ्क्ष्वात्मदास्ये॥

'मैं कामादिके कितने बुरे-बुरे आदेश कितने प्रकारसे पालन करता रहा, पर मेरे प्रति न तो उन कामादिको दया आयी और न अपनेको दया करनेमें असमर्थ जानकर उन्हें लाज ही आयी, वे अपनी चालसे बाज आये ही नहीं। अब हे यदुनाथ! मुझमें बुद्धि आ गयी है और मैं उनको छोड़कर तुम्हारे अभय-चरणोंकी शरणमें आ गया हूँ। तुम मुझको अपने दासत्वमें नियुक्त कर लो।'

सभी अन्याश्रयोंको छोड़कर एकमात्र भगवान्‌के चरणोंका आश्रय लेनेसे ही सुख-शान्ति मिलेगी और उसीसे जीवन सफल होगा। शेष भगवत्कृपा।

गोबरकी राम-कहानी

(श्रीशिवपूजनजी सहाय)

मैं सभी वनौषधियोंकी उत्पत्तिका मूल हूँ। इसीलिये मेरा रस पाकर सभी वनस्पतियाँ लहलहा उठती हैं। श्रीमती सुरभि मेरी माता हैं। मैं गङ्गाजल-सा पूज्य एवं पवित्र हूँ। पञ्चगव्यकी कितनी महिमा है, यह तो आप जानते ही हैं, फिर उसमें मेरा भी समावेश होता है, यह भी आपसे छिपा नहीं है। हिन्दू घरोंके प्रत्येक माङ्गलिक कृत्योंमें तथा चूल्हे-चौकेसे यज्ञ-मण्डपतक मेरा प्रवेश एवं उपयोग सबसे प्रथम अनिवार्य है।

मेरा गरमा-गरम प्रयोग करेंगे तो साबुन तुच्छ पड़ जायगा। मैं मलिनताका अन्त करता हूँ। दुर्गन्ध दूर करनेमें अच्छी-से-अच्छी फिनाइल मेरे सामने फीकी पड़ जायगी। भयंकर कीटाणुओंके नाशके लिये मैं सुनिश्चित 'यम' हूँ।

आजका वैज्ञानिक मान गया है कि रासायनिक खादकी अपेक्षा गोबरकी खाद कई गुना उत्तम है। इससे प्राप्त वनस्पति अधिक सुस्वादु और पौष्टिक होती है। भूमिकी उर्वरा-शक्ति बढ़ती है। मानव-मस्तिष्क-निर्मित खादने मुझे भुलावेमें डाल दिया था। अब उस खादकी जान खतरेमें है, ऐसा समझो। जिस भूमिको वह खाद ऊसर बना देती है, उसे मैं फिर उपजाऊ बनाता हूँ।

मैं बड़ा रसीला हूँ। कपड़ेमें लेकर निचोड़नेकी कोशिशमें शायद कुछ बूँद ही मिलें। पर ताजा गरमा-गरम मेरे शरीरपर यदि बारीक कपड़ा रखकर निचोड़ो तो कटोरा भर जाय।

दृष्टि-मान्द्यमें गोमय-तैल बड़ा उपकारी होता है। तैलसे चार गुना मेरा रस डालकर पकाओ, केवल तैल शेष रहनेपर उतारकर शीतल कर लो। इसे आँखोंमें लगानेसे सम्पातीकी-सी दृष्टि पा लोगे। विश्वास न हो तो किसी सुयोग्य वैद्यसे पूछ लो।

प्रसिद्ध मरिच्यादि-तैल मेरे रस-बिना नहीं बनता। इस तैलमें समस्त चर्मरोगोंको नष्ट करनेकी चमत्कारी शक्ति मेरे ही रसके प्रभावसे है। मेरे रसमें पकनेसे भिलावेके विष-तत्त्व नष्ट होते हैं और तदनन्तर शुद्ध किया भल्लातक काया-कल्पमें प्रयुक्त होता है।

सूखी खाजमें मेरा ताजा रस जादूका असर दिखायेगा। बंदरके काटे क्षतपर मुझे गरमा-गरम उठाकर लगाओ—पीड़ा छू-मन्तर हो जाती है। रसौषधिमें मेरे कंडे काम आते हैं। दूसरी अग्नि वैसा प्रभाव नहीं पैदा कर सकती।

दादको सूखे कंडेसे खुजलाकर दवा लगाओ तुरंत लाभ होगा। और कंडेकी राखमें गुण भी घटते नहीं। मृतप्राय शरीरमें उसके रगड़नेसे रक्त-संचार सही हो जाता है। मेरी गुण-गाथा सुनोगे और गाओगे तो निहाल हो जाओगे, गोमाताको संहारसे बचा पाओगे और देशको समृद्धिशाली कर पाओगे। **'गोमये वसते लक्ष्मीः'**—इस उक्तिको स्मरण करो और बड़ी लगनसे ढूँढ़ो इस गव्यमें लक्ष्मी छिपकर कहाँ बैठी है? मेरी राम-कहानी तो पूरी नहीं हुई, पर इतना भी याद रखोगे तो तुम्हारा बड़ा लाभ होगा।

प्रेम-संदेश

सुभग सनेही श्यामसुन्दर सुचन्द्र चारु,
हम-सी चकोरिनिकी चाह क्यों निहारैं ना।
वे हैं घनश्याम हम याचक मयूरनिके,
नेहको निहारैं ऐसे निपट बिसारैं ना॥
हियरो हमारो एक सो तो नन्दनन्दन पै,
ज्ञानकी कथाको सुनैं कौन सो बिचारैं ना।
ऊधो तुम जाय ऐसी कहियो गुबिन्दजू सों,
गोपिन गरीबनपै गजब गुजारैं ना॥

—गोविन्दराम अग्रवाल

पढ़ो, समझो और करो

(१)

कीर्तनका प्रभाव

बच्चे नये शिक्षकके आगमनपर उस दिन बहुत प्रसन्न दीख रहे थे—

उन्हें तो जैसे मुँहमाँगी मुराद मिल गयी थी। रोज-रोज नये खेल, नयी-नयी बातें सुनकर वे बड़े प्रसन्न रहते। पढ़ाईके साथ-साथ ईमानदार और वीर बालकोंकी कहानियाँ सुनकर उनका मन अब पढ़ाईमें भी लगने लगा था।

जलपानके लिये दोपहरका समय हो गया था। दूर गाँवसे आनेवाले छात्र-छात्राएँ पंक्तिबद्ध बैठकर भोजन कर रहे थे। शिक्षक भी कक्षमें बैठे बातोंमें तल्लीन थे।

'गुरुजी-गुरुजी'—एक बालक चिल्लाता हुआ आया। शिक्षकोंके वार्तालापमें व्यवधान पड़ गया। 'क्या बात है ?' हेड मास्टर साहब दहाड़े। वह बेचारा बालक हाँफता-सा बोला—'बाल्टी कुएँमें गिर गयी है।' 'अरे तो जाकर निकाल क्यों नहीं लेते?' हेड साहब पुनः दहाड़े। तदनन्तर एक लड़का दौड़कर काँटा ले आया। रस्सी बाँधकर कई लड़के बाल्टी निकालनेका प्रयास करते रहे, किंतु बाल्टी न निकली। अजयने कहा—'नये मा··सा··ब' से कहो—वे शायद हमारी सहायता कर दें। अभिलाषाको उनके पास भेज दो, वह उन्हें बुला लायेगी।' सभीने अपनी सहमति दी। अभिलाषा कक्षतक जा भी न पायी थी कि नये मास्टर साहब कक्षसे बाहर आते दिखायी दिये।

'क्या बात है अभिलाषा? लगता है बाल्टी नहीं निकली। चलो, मैं चलता हूँ'—कहकर वे कुएँके पास गये। उनके चेहरेपर मुस्कराहट थी। सभी बालक उन्हें देखकर प्रसन्न थे। मास्टर साहबने कहा—तुम सब इसी जगतपर बैठ जाओ और मेरे साथ 'नटखट गोपाल' का कीर्तन करो। और हाँ, हाथ जोड़ लो और आँखें भी बंद रखना। अब देखना उस नटखट नन्दलालकी लीला। सभी बालक आँखें बंद किये मास्टरद्वारा बोले गये कीर्तनको दुहरा रहे थे—***'श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे, हे नाथ नारायण वासुदेव।'*** करीब पंद्रह मिनटमें वातावरण कृष्णमय बन गया।

फिर उन्होंने आँखें खुलवा दीं और कहा—मैं कहूँगा—'राधे-राधे' तुम सब कहोगे—'श्याम मिला दे।' शिक्षक जोरसे बोले—'राधे-ऽ-राधे-ऽऽ' बालकोंने उनका साथ दिया 'श्याम मिला दे।' कई बारकी आवृत्तिके बाद उन्होंने सियाराम नामके लड़केसे कहा—'अब काँटा डालो।' उसने कुएँमें काँटा डाला तो बाल्टी काँटेमें फँसकर बाहर आ गयी। बालक प्रसन्न-मनसे बोल उठे-'राधे-राधे—श्याम मिला दे।' उस समय बालकोंकी प्रसन्नता देखते ही बनती थी। वे अपने शिक्षकसे अतीव प्रसन्न थे। मध्याह्नकालीन अवकाश समाप्त हो चुका था, अतः सभी बालक प्रसन्न मनसे अपनी-अपनी कक्षामें चले गये। अन्तमें खेलका समय आ गया। फिर वही नये-नये खेल। आज उनमें बड़ा उत्साह था और मनमें प्रश्न। उन्हें मौकेकी तलाश थी कि 'गुरुजी' से कब कैसे बात की जाय। शायद मास्टर साहब समझ गये थे। आज उन्होंने खेल जल्दी समाप्त कर दिया था। सभी बालक उन्हें घेरकर बैठ गये।

'आज तुमलोगोंने 'कृष्ण कन्हैया' का एक कमाल देखा। यदि इसी प्रकार प्रतिदिन उनका कीर्तन करोगे तो तुमलोगोंको अनेक लाभ होंगे और नये-नये अनुभव होंगे।' मास्टर साहब बात पूरी भी न कर पाये थे कि लखनने खड़े होकर कहा—'गुरुजी ! स्कूलमें प्रतिदिन बिच्छू निकलते हैं। कभी-कभी तो साँप भी। क्या कीर्तन करनेसे वे न निकलेंगे ?' शिक्षकने अपनी मुस्कराहटके साथ कहा—'निःसंदेह नहीं निकलेंगे। आजसे ही कीर्तन आरम्भ कर दो। फिर कलसे देखो कि यहाँ ऐसे विषैले जीव-जन्तु दिखायी देते हैं या नहीं।'

सुमन, जो अभी स्कूल अपना बस्ता उठाने आयी थी, वह भी गुरुजीकी बात ध्यानसे सुन रही थी। उससे भी न रहा गया और वह बोली—'गुरुजी ! थोड़ी देर पहले मेरे गालपर ततैया (बर्रै) ने काटा है। क्या कीर्तन करनेसे मेरा गाल न फूलेगा ? शिक्षक अपनी उसी मुस्कराहटके साथ बोले—'हाथ कंगनको आरसी क्या ? सभी मिलकर सुमनके स्वास्थ्यके लिये 'गोविन्द' का कीर्तन करो, फिर देखो उस [illegible] जादू।' बालकोंने शिक्षक महोदयके साथ-साथ

कीर्तन किया। वातावरण रसमय, आनन्दमय हो गया। 'राधे-राधे', 'श्याम मिला दे' के स्वरसे वहाँका सारा वातावरण गूँज गया।

छुट्टी हुई। शिक्षक अपनी-अपनी साइकिलोंपर शहरकी ओर बढ़ रहे थे। बालकोंको वे जबतक दिखायी देते रहे तबतक 'राधे-राधे—श्याम मिला दे' का स्वर सुनायी देता रहा।

दूसरे दिन। सुमनके चेहरेपर कोई सूजन नहीं थी। बिच्छुओंका भी पता न था। 'कन्हैया' के कीर्तनसे बालक लाभान्वित थे। उनमें भगवान्‌के कीर्तनके प्रति श्रद्धा बढ़ गयी। अब वे नित्य श्रीहरिका कीर्तन करते रहते हैं। आजतक उन्हें न तो बिच्छू दिखायी दिये और न ही साँप। बाल्टी कुएँमें गिरे तो 'श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे, हे नाथ नारायण वासुदेव!' का कीर्तनकर निकाल लेते हैं। अब वे अपने शिक्षकोंसे नमस्तेके स्थानपर 'राधे-राधे' कहते हैं और 'श्याम मिला दे' कहकर शिक्षक उत्तर देते हैं। बड़ा अच्छा लगता है जब शिक्षक 'राधे-राधे' कहते हैं और बालक 'श्याम मिला दे' कहकर उत्तर देते हैं।

यह कृपा उन्हीं नीलमणि व्रजेन्द्रनन्दन श्यामसुन्दरकी ही है। इसमें उन शिक्षक महोदयका अपना कुछ नहीं। ऐसा वे स्वयं कहते हैं। धन्य हैं वे लोग जो श्रद्धा-विश्वासपूर्वक भक्तिभावसे श्रीहरिका नित्य कीर्तन करते हैं।

—श्रीरामबालक सोनी 'शिक्षक'

(२)

रामायणसे व्यावहारिक शिक्षा

रेलवे स्टेशनपर एक बुजुर्ग ट्रेनकी प्रतीक्षामें रामचरितमानसका पाठ कर रहे थे। वे रामायणके बड़े प्रेमी थे। उन्होंने सोचा कि 'ट्रेन आनेमें तीस मिनट हैं तो तबतक रामचरितमानसका पाठ ही कर लूँ।' तभी एक नवदम्पति जो पढ़े-लिखे थे, उन वृद्धकी आलोचना करने लगे। इन लोगोंने सालोंसे रामायणको पकड़ा है, छोड़ते ही नहीं। स्टेशनपर भी पढ़ने बैठ गये। युवकने उनसे परिहासमें कहा—'अब संसारमें बड़ी-बड़ी गीताएँ लिखी जा रही हैं तथा बड़े-बड़े उपन्यास भी लिखे जा रहे हैं और आपने अभीतक एक रामायण ही बरसोंसे पकड़ रखी है, छोड़ते ही नहीं। इसमें ऐसा क्या है, जिसे आप पढ़ रहे हैं।' प्रारम्भमें वृद्धने इस ओर ध्यान नहीं दिया। पर उसने आग्रह किया—'जवाब दीजिये। क्यों आप रामायण लेकर बैठे हैं? इसमें क्या है?' बुजुर्गने कहा—'इसमें क्या है, यह तो मैं भी मालूम नहीं कर सका। अतः आपको सबूत नहीं दे सकता। परंतु आप तो पढ़े-लिखे व्यक्ति हैं, पण्डित हैं, आप बताइये कि इसमें क्या नहीं है? मैं तो चिन्तक हूँ नहीं। अभ्यास भी मुझे नहीं है, इसलिये मैं नहीं बता सकता कि इसमें क्या है?' इसपर युवक बोला—'यह तो आपकी बौद्धिक दलीलें हैं। क्या इसमें सब कुछ लिखा है?' बुजुर्गने कहा—'भाई, मेरा तो विश्वास है कि इसमें सभी कुछ है।'

संयोगसे तबतक ट्रेन आ गयी और दोनों ट्रेनमें बैठ गये। बुजुर्गने सीट मिलनेके पश्चात् रामचरितमानसका पाठ पुनः प्रारम्भ कर दिया। थोड़ी देर बाद ट्रेन चल पड़ी और धीरे-धीरे गाड़ीने गति पकड़ ली। गाड़ी थोड़ी ही दूर गयी होगी कि उस युवकने आवाज लगायी। 'गाड़ी रोको'—अन्य लोग पूछने लगे कि क्या हुआ? उसने कहा—'गाड़ी जल्दी रोको।' ऐसा कहकर उसने जंजीर खींच दी। ट्रेनमें बैठे लोग पूछने लगे कि गाड़ी क्यों रोक दी? आपको मालूम है कि बिना किसी कारणके गाड़ी रुकवानेपर दंड, सजा मिल सकती है? युवकने कहा—'जल्दीमें मैं भीड़-भरी गाड़ीमें चढ़ गया और मेरी पत्नी स्टेशनपर रह गयी, इसलिये मैंने गाड़ी रुकवायी है।' उस बुजुर्गने यह सुनकर उसका हाथ पकड़ा और कहा कि 'भाई, बुरा न मानो तो कहूँ। स्टेशनपर आप मेरी आलोचना कर रहे थे कि रामायणमें ऐसा क्या लिखा है कि पढ़ते ही रहते हो। अब आप देखें, यदि आपने एक बार भी रामायण पढ़ी होती तो जैसी भूल आज की है, वैसी भूल नहीं हो पाती। आप बिना पत्नीको चढ़ाये कैसे ट्रेनमें बैठ गये।' इसका भी उत्तर रामायणमें है। रामायणमें लिखा है कि जब केवटने रामके चरण धोए और फिर नौकामें बिठाया तब सीताजी पहले बैठीं और फिर रामजी बैठे। यथा—

राम सखाँ तब नाव मगाई। प्रिया चढ़ाइ चढ़े रघुराई॥

(मानस २। १५१। ४)

रामायणमें कहा है कि किसी भी वाहनमें बैठना हो तो पहले पत्नीको बैठाना चाहिये, फिर स्वयं बैठें। यदि आपने

रामायण पढ़ी होती तो यह भूल न होती। देखें, व्यवहारकी ऐसी कोई समस्या नहीं, जिसका उत्तर रामायण न दे। भगवान्‌पर सच्ची निष्ठा, भक्ति एवं आस्था होगी तो रामायण या रामशलाका-प्रश्नावली आपके प्रश्नोंका उत्तर अवश्य देगी।

—मोरारी बापू

[प्रेषक—अजीतकुमार माथुर]

(३)

दत्तकवचकी महिमा

पिछले करीब दस वर्षोंसे मैं अनिद्रा-रोगसे पीड़ित था। इस रोगकी निवृत्तिके लिये मैंने कई प्रकारकी ओषधियाँ कीं। चार-चार, छः-छः नींदकी गोलियाँ लेनेके बावजूद भी नींद कोसों दूर रहती थी। नींद न लगनेसे अन्य कई प्रकारके रोगोंका प्रादुर्भाव हो गया। जैसे मलावरोध, गैस्ट्रीक्ट्रबल, गर्मी, हाथ-पैरोंकी जलन आदि। ऐसे कई प्रकारके विकारोंका मैं सामना कर रहा था। मानसिक संतुलन भी दिनोंदिन बिगड़ता जा रहा था। इस कठिन परिस्थितिमें भगवान्‌की प्रार्थना करनेके अतिरिक्त अब और कोई उपाय शेष नहीं रह गया था। आखिर, भगवान्‌ने मेरी प्रार्थना सुनी।

मल्लिकार्जुनके दर्शन करनेके लिये मैं श्रीशैलम् गया था। श्रीशिवजीकी पूजा-अर्चना करके मैंने अपनी नित्यकी प्रार्थना की। मन्दिरसे बाहर आनेके बाद मुझे 'बिल्ववनम्' देखनेकी इच्छा हुई और मैं उस ओर चला गया। वहाँ भ्रमण करते समय एक महात्मा पेड़के नीचे बैठे हुए मुझे दिखायी पड़े। मैंने उन्हें प्रणाम किया। बातचीतके दौरान मैंने उनको अपनी व्यथा सुनायी। उन्होंने मुझसे कहा एक नोटबुक और पेन लेकर आओ। तुम्हारे रोगका इलाज मेरे पास है, मैं बताऊँगा। वहाँसे मैं उठा और सीधे मन्दिरके पास आया तथा दूकानसे एक नोटबुक खरीदकर उन महात्माजीके पास गया। पेन तो मेरे पास थी ही।

उन महात्माने मुझे 'दत्तात्रेय-वज्र-कवच' नामक एक स्तोत्र लिखकर दिया और बताया कि सोते समय किसी व्यक्तिको यह स्तोत्र पढ़नेको कहना और तुम सो जाना। आज ही इसका प्रयोग करके मुझे कल आकर बताना। मैं फौरन वहाँसे निकलकर लॉजके ऊपर आया। मैंने अपने एक अन्य साथीको सभी बातें बताकर स्तोत्र पढ़नेको कहा। उसने जब स्तोत्र पढ़ना शुरू किया तो थोड़ी ही देरमें मुझे गहरी नींद आ गयी। जब मैं उठा तब पता चला कि मैं करीब दस घंटे गहरी नींदमें सोया था। दूसरे दिन उठते ही बड़े आनन्दसे मैं फल-फूल लेकर उन महात्माजीके दर्शन करने गया और उनके प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त की। महात्माजीने कहा—'दत्तात्रेय-वज्र-कवच' एक सिद्ध स्तोत्र है। इस स्तोत्रमें कई प्रकारके सामर्थ्य हैं। इस स्तोत्रके नित्य पाठसे कुण्डलिनी भी जाग्रत् होती है तथा ध्यान-मार्गमें आनेवाले सभी विघ्न दूर हो जाते हैं। सभी प्रकारकी मनःकामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं। ग्रह एवं पिशाच-बाधाएँ भी दूर हो जाती हैं।

महात्माजीका कृपा-आशीर्वाद लेकर मैं अपने गाँव आया। आज भी उन महात्माजीके बताये हुए स्तोत्रका मैं निरन्तर पाठ करता हूँ, जिससे मुझे पूर्ण संतोष है और धर्ममार्गमें भी अच्छी प्रगति हो रही है[१]।

—श्रीदिलीपजी आचरेकर

'धन्य वही है, जिसके जीवनका एक-एक क्षण अपने प्रियतम प्यारेके मनकी अनुकूलतामें बीतता है, चाहे वह अनुकूलता संयोगमें हो या वियोगमें, स्वर्गमें हो या नरकमें, मानमें हो या अपमानमें, मुक्तिमें हो या बन्धनमें।'

१-'दत्तात्रेय-वज्र-कवच' प्रायः सभी स्तोत्र-संग्रहोंमें प्राप्त होता है और अत्यन्त प्रभावशाली है। इसके पाठसे भगवान् दत्तात्रेयका तत्काल अनुग्रह प्राप्त होता है। इसकी शैली भी अत्यन्त आकर्षक और पाठकके मनको लुब्ध करनेवाली है। इसका पाठ आरम्भ करते ही श्रद्धालुका मन सहसा भावावृत हो जाता है और हृदयमें दत्तात्रेयजीका दर्शन भी होने लगता है, वे हैं भी अत्यन्त दयालु तथा स्मृतिमात्रानुगन्ता।'दत्त-वज्र-कवच'में प्रायः साठ श्लोक हैं, जिनमें भगवान् दत्तात्रेयका स्वयं कथन है कि मेरा स्वभाव ही ऐसा है कि जो प्रेमसे श्रद्धापूर्वक या बिना ही श्रद्धाके किसी भी प्रकार मेरा स्मरण कर लेता है तो मैं वहाँ पहुँचकर तुरंत उसकी अभिलाषा पूर्ण कर देता हूँ—

दत्तात्रेयो मुनिं प्राह मम प्रकृतिरीदृशी। अभक्त्या वा सुभक्त्या वा यः स्मरेन्मामनन्यधीः॥
तदानीं तमुपागत्य ददामि तदभीप्सितम्। (दत्तात्रेय-कवच २३)

मनन करने योग्य

दो वृद्धाएँ

(श्रीरमणलालजी सोनी)

गाँवके आखिरी कोनेमें दो वृद्धाएँ रहती थीं। दोनोंके घरकी दीवाल एक थी। घरके सामने छोटे-से टीलेपर साधु-संतोंका एक आश्रम था। दोनों वृद्धाएँ आश्रममें काम करने जातीं। संतोंकी कृपासे उन्हें कभी अन्न-वस्त्रका अभाव न हुआ। वे एक साथ रहतीं, एक साथ काम करतीं, फिर भी दोनोंके स्वभावमें जमीन-आसमानका अन्तर था। एक उदार थी, देने योग्य तो उसके पास नहींके बराबर ही था, परंतु अपने-जैसे गरीबोंको समय-समयपर वह कुछ-न-कुछ अवश्य दिया करती थी। दूसरी कंजूस थी, देने योग्य उसके पास बहुत कुछ एकत्रित हुआ था, परंतु वह कभी किसीको कुछ भी नहीं देती थी।

एक दिन सायंकाल आकाशमें बादल गरजने लगे, बिजली चमकने लगी और आँधी चलनी शुरू हुई। वृक्ष और मनुष्य, पशु और पक्षी, जीव और निर्जीव सभी काँपने लगे। मूसलाधार जल-वृष्टि आरम्भ हुई। दोनों वृद्धाएँ अपने-अपने घरोंमें घुस चुकी थीं। अचानक कंजूस वृद्धाके दरवाजेपर किसीकी आवाज सुनायी दी। वृद्धा व्यालू करने बैठी थी। 'शायद कोई तूफानमें फँसा हुआ मुसाफिर होगा, जो व्यालूमें हिस्सा चाहेगा।' ऐसा सोचकर उसने जल्दी-जल्दी जितना खा सकती थी खा लिया। जो बचा उसे ढक दिया और तब निवृत्त होकर उसने दरवाजा खोला। खोलते-खोलते बोली— रात-दिन न जाने कहाँसे ऐसी आफत चली आती है, पलभर भी आरामतक नहीं करने देती।

परंतु ज्यों ही उसने दरवाजा खोला—एक सौम्य शान्त साधुकी मूर्ति उसे दिखायी पड़ी। बुढ़िया स्तब्ध हो गयी। साधुने आँधी-पानीसे बचनेके लिये सिरपर एक मोटी बोरी डाल रखी थी। भीगी बोरीसे पानीकी बूँदें टपक रही थीं। रोटीका एक टुकड़ा मिलेगा मैया? साधुने मौन तोड़ा। वृद्धा जानती थी कि ऐसे साधु-संत जरा-सी सेवाके बदले बहुत कुछ दे जाते हैं। इसलिये उसने तुरंत ही भोजनकी थाली लाकर सामने उपस्थित कर दी। बदलेमें बहुत मिलनेकी आशा हो, तब थोड़ा-सा दे देनेमें बुढ़िया भला क्यों हिचकिचाने लगी?

साधु भोजन करने बैठे। वृद्धा साधुके मुखकी ओर देखती ही रही। साधुके चेहरेपर एक अद्वितीय तेज झलक रहा था। आश्रमके सभी साधुओंको वह पहचानती थी, पर इनको कभी न देखा था। इनके चेहरेपर ऐसी सुकोमल नम्रता और पवित्रता थी कि प्रथम दृष्टिमें ही इनके अन्तस्तलका आर-पार देखा जा सकता था। पर वृद्धाको यह देखनेका अवकाश कहाँ? वह तो साधु कौन है? और क्या लाया है? बस यही जाननेके लिये आतुर थी। साधु बोले—'कितना भयंकर तूफान है। धनवानोंकी तो चिन्ता नहीं, पर बेचारे निरीह निर्धनोंका क्या होगा? अनाथोंका कौन?' वृद्धाने कहा— 'भगवन्! यदि संसारमें साधु-संतोंकी कृपादृष्टि न होती तो मुझ-जैसी गरीबकी क्या दशा होती?' साधुने कहा— 'इसीलिये तो मैया! मैं तेरे दरवाजेपर आया हूँ। जो भूखेको अन्न और वस्त्रहीनको वस्त्र देता है, वह धन्य है, स्वर्गकी सभी सीढ़ियाँ उसके पास हैं।'

'माँ! तेरे भाग्यकी बलिहारी है, तुझसे भी अधिक गरीब और दुःखी लोगोंके लिये मदद माँगने मैं आया हूँ। दो अपरिचित महिलाएँ मेरे आश्रममें आश्रय-हेतु आयी हैं, बिजली गिरनेसे दोनोंके घर गिरकर ढेर हो गये हैं। घरका सब कुछ स्वाहा हो गया है। बेचारी निष्किंचन और निराधार बुढ़िया··· ! आश्रमके सभी खण्ड ऐसे ही निराश्रितोंसे भर गये हैं। फिर भी हमने उन्हें आश्रय दिया है, परंतु पहनने-ओढ़नेका हमारे पास कुछ भी तो नहीं है। तुम यदि आजकी रातभरके लिये कुछ ओढ़ने-बिछानेको दे दो तो प्रातः जब कुछ लोग चले जायँगे, हम तुम्हें लौटा देंगे। तुम्हारे तो सुरक्षित घर है, इसलिये कुछ-न-कुछ अवश्य दे सकोगी।' साधुने मदद माँगी। बुढ़िया निराश हो गयी, उसकी आवाज मंद हो गयी—'महाराज! कुछ दूर पधारते तो धनवानोंकी कहाँ कमी थी, मुझ गरीबका ही घर आपको मिला, मेरी हालत ही दान लेने-जैसी है, इसका भी तो ख्याल किया होता।'

'एक कम्बल भी नहीं दे सकोगी माँ? वे बेचारी ठंडसे

काँप रही हैं।' बुढ़िया चौंकी, अभी थोड़े ही दिनों पहले उसे एक सुन्दर गरम कम्बल मिला था, वह कमरेमें गयी और सोचने लगी। 'नया कम्बल तो कैसे दे दिया जाय।' उसने पुराना कम्बल उठाया और उसे भी तह लगाकर रख दिया। पुराने कम्बलके भी उसे अनेक गुण याद आ रहे थे—'पूरे सात वर्षोंसे इसका उपयोग करती हूँ, फिर भी अभी वैसा ही है, वे भटकती महिलाएँ न जाने कहाँसे आयी होंगी, नींदमें लातें मारकर मेरे कम्बलको न जाने कैसा कर डालेंगी? भटकनेवालोंको क्या भान रहेगा। जिंदगीमें कभी कम्बल देखा हो तब न····वे तो बोरियोंपर सोनेवाली····।'

ज्यों-ज्यों वह सोचती गयी, त्यों-त्यों उसे अपना अनुमान सच्चा प्रतीत होने लगा। अचानक उसे याद आया ऐसे लोगोंमें बहुत-से रोगी होते हैं, उनके लिये कम्बल कैसे दिया जाय? दो साल पहले कुछ रोगी आये थे, उन्होंने जिन वस्तुओंका उपयोग किया था, उन्हें जला डालना पड़ा था। कहीं मेरे कम्बलकी भी वही दशा हो तो! इतना सुन्दर कम्बल कैसे जला डाला जाय, अभी तो यह दस साल और काम दे सकेगा। फिर एक पतली रजाई उठायी, परंतु तुरंत ही न··· न···न यह तो मेरे बापके घरकी है, कहकर रख दी। एक पुरानी जीर्ण चद्दरको जो दीवालपर लटक रही थी, लेकर समेटने लगी। परंतु फिर सोचा ऐरे-गैरे दिनोंमें यही चद्दर कम्बलका काम देती है, इसे कैसे दे दूँ? दुःखित हृदयसे एक दूसरी जीर्ण चादर लेकर वह बाहर आयी। 'आज यह ऐसी दीखती है, पर जब खरीदी, उस समय बहुत ही सुन्दर थी, आठ आनेसे तो कम नहीं लगे होंगे।'

'इससे अधिक आप कुछ भी नहीं दे सकतीं?' साधुने चादरको कंधेपर डालते हुए पूछा। हाय-हाय मेरे घरमें देने योग्य क्या है? अब क्या दूँ? सारी रात मुझे भी तो अब ठंडमें ठिठुर-ठिठुरकर काटनी पड़ेगी।'

'बेचारी औरतें ठंडीमें ठिठुरती हैं। तुम्हारी तरह ही वृद्धा हैं। सब कुछ गँवा बैठी हैं। कुछ तो दे दो।'

किंतु बुढ़ियाके पत्थर-दिलपर कोई प्रभाव न पड़ा। साधु वहाँसे निकलकर पासकी दूसरी बुढ़ियाके घर गया। यहाँ भी उसने वही बात कही। निराधार वृद्धाओंकी हालत सुनकर वृद्धाका हृदय भर आया। ठीक ही है, ***घायलकी गति घायल जाने।*** वह बोली—'भगवान्‌की दयासे मुझे अभी ही यह नया कम्बल मिला है, लीजिये, ले जाइये' और उसने कम्बल दे दिया। तुरंत ही बोली—'यह पुराना भी लेते जाइये, काम आयेगा, यह रजाई भी और यह चादर भी, यहाँ किस काम आयेगी? एक रात तो मैं किसी तरह भी काट लूँगी। बेचारी वे औरतें ठंडसे ठिठुर रही होंगी। मेरे कपड़े भी उनके काम आयेंगे, इन्हें भी ले जाइये।'

बुढ़ियाने जितना दिया उतना साधुने चुपचाप ले लिया। उसके मुखपर उज्ज्वल स्मिति लहरा रही थी।

'लीजिये, यह भी ले जाइये और यह भी, रातमें बेचारा और कोई भूला-भटका आ जायगा तो काम आयेगा। मैं तो बोरीपर ही रात काट लूँगी।' बुढ़ियाने करीब-करीब घरका सब कुछ दे दिया।

साधुके जानेके बाद आँधी-पानी अधीर हो उठी, नभमें भयंकर गर्जना होने लगी, प्रलयंकारी पवन चलने लगा, वृक्ष धड़ाधड़ गिरने लगे। अचानक एक भयंकर कोड़ेकी तरह बिजली चमकी और उन दोनों वृद्धाओंके मकानोंपर गिरकर जमीनमें उतर गयी। वृद्धाएँ बच गयीं, परंतु दोनोंके घर और घरका सब कुछ स्वाहा हो गया।

दुःखसे विलखती दोनों वृद्धाएँ तूफानमें ठोकरें खाने लगीं। 'इधर चलिये वहाँ मेरे आश्रममें'—उसी साधुकी सुमधुर वाणी सुन पड़ी। दोनोंका हाथ पकड़कर साधु उनको आश्रममें ले आया। दीवालके पास छप्परके नीचे उदार वृद्धाकी दी हुई सभी वस्तुएँ ज्यों-की-त्यों रखी हुई थीं। 'यह तेरा है और तुझे वापस मिलता है, माई!' साधुने कहा! 'तूने जो दान दिया वह खुदको ही दिया है।' 'परंतु उन दोनों वृद्धाओंका क्या हुआ?' उदार वृद्धाने चिन्तित हो पूछा।

'वे दोनों तुम ही हो, तुमने उदार बनकर निराश्रितोंके लिये जो कुछ बचाया, वही परमात्माने तुम्हारे लिये बचाया है।' साधु बोले।

फिर दूसरी वृद्धाकी ओर देखकर उन्होंने जीर्ण चादर देते हुए कहा—'तेरा सब कुछ नष्ट हो गया, माई! सिर्फ इतना ही बचा है, क्योंकि इतना ही तूने बचाया था। कंजूस बुढिया कुछ न बोली। सिर्फ मुँह नीचा किये रही। साधु धीरेसे हँसने लगे।

[अनुवादक—श्रीजयशंकर पंड्या]

सरलता और आनन्द

सरलता ही आनन्दका मूल स्रोत है। सरलता ही शक्तिका केन्द्र है। सरलता भगवान्‌को प्यारी है। जैसे-जैसे बालक चतुर होता जाता है, निजानन्दको खोता जाता है। आनन्दपूर्वक जीवित रहनेके लिये प्रत्येक व्यक्तिको बालभाव प्राप्त करना तथा बालकोंमें मिलना आवश्यक है। बच्चोंसे हरेक व्यक्ति प्रसन्न रहता है। बड़े-बड़े सांसारिक जटिल कार्य करनेवाले लोग, जिनका उत्तरदायित्व असीम रहता है, अपना थोड़ा-सा समय बच्चोंके साथ व्यतीत करनेमें अपना सौभाग्य समझते हैं। बच्चे उनमें नवजीवनका संचार कर देते हैं।

इंगलैंडके राजा अलफ्रेडके बारेमें यह कथा प्रसिद्ध है कि वह किसी-किसी दिन गुप्तरूपसे अपना राज्यका कार्य छोड़कर एक गरीब बुढ़ियाके यहाँ चला जाता था। उसकी संरक्षकतामें दो शिशु रहते थे, राजा उन बालकोंके साथ खेलता था। उनके आनन्द-विनोदको बढ़ाता था। कभी-कभी अलफ्रेड स्वयं घोड़ा बनकर पैरों और हाथोंसे चलने लगता था और बच्चे उसके ऊपर सवार होते थे। इस प्रकार अलफ्रेड बच्चोंके साथ असीम आनन्दका उपभोग करता था। जो आनन्द राज्यका इतना बड़ा अधिकार प्राप्त करनेमें नहीं था, वही बच्चोंकी संगतिमें उसको सुलभ हो गया।

बच्चोंकी ओर हम आकर्षित क्यों होते हैं ? इसका कोई बौद्धिक उत्तर देना कठिन है। यह हमारे अव्यक्त मनकी प्रेरणा है। अज्ञातरूपसे वह हमें सरलता और स्फूर्तिकी ओर ले जाती है। बालकमें सरलता, स्फूर्ति और आनन्द भरपूर होता है। बस, यही वस्तुएँ हमें उसकी ओर खींच लेती हैं। हमारा सहज स्वरूप सरलता, स्फूर्ति और आनन्दमय है। बालक हमें अपने स्वरूपका स्मरण करा देते हैं। उसी असीम आनन्दकी ओर हमें ले जाते हैं।

महात्मा ईसाने कहा है—'जबतक तुम बच्चे-जैसे नहीं बन जाओगे, तबतक परमात्माकी प्राप्ति कभी नहीं होगी।' हमारा सांसारिक जीवन निरानन्दमय होता है। अतएव वह हमें आत्मस्थितिसे अथवा आत्मानन्दसे दूर ही ले जाता है।

बालककी संगति यदि बोधपूर्वक की जाय तो वह अवश्य परमानन्द और आत्मज्ञान प्राप्त करनेमें सहायक होगी। मनुष्य अपने साधारण व्यवहारमें कपट-छलसे प्रेरित रहता है। हमारी आत्मा इस प्रकारके अनुभवोंसे पीड़ित हो उठती है। हम सचाईको ढूँढ़ना चाहते हैं। असत्-व्यवहार बालकके स्वभावके प्रतिकूल है। बालकका जीवन सद्भावनामय होता है, अतएव उसका दर्शनमात्र मनुष्यको पवित्र करता है।

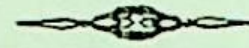
हम अपने मित्रों और संसारके व्यक्तियोंमें जो बहुत शिष्टाचार पाते हैं, वह प्रायः छलमय होता है। हम स्वयं इसी प्रकारका छलमय व्यवहार संसारमें करते हैं। इसी प्रकारके व्यवहारसे हमारा हृदय आक्रान्त हो उठता है। बालकके हृदयमें कपट-व्यवहारके लिये स्थान नहीं। अतएव वह सदा आनन्दसमुद्रमें निमग्न रहता है।

मनुष्यकी सभ्यताका दूसरा नाम छल है। सभ्यता कपट-व्यवहारका विकसित रूप है। रूसो महाशयने अपने एक लेखमें यही दिखलाया है कि जैसे-जैसे सभ्यता बढ़ती जाती है, मनुष्यके सदाचारका नाश होता है। जो मनुष्य जितना सभ्य और शिष्ट कहलाता है, वह प्रायः उतना ही असद्व्यवहार करनेवाला और धूर्त होता है।

रूसोका दृष्टिकोण महात्माओं, कवियों और तत्त्व-ज्ञानियोंका दृष्टिकोण है। कवि सरल-हृदय होता है। कविता गङ्गाजीकी पवित्र धाराके समान कविके हृदयरूपी स्वच्छ मानसरोवरसे निकलती है। कविता दलदलकी उपज नहीं, संसारके आघात-प्रतिघातसे विकृत बुद्धि कविताका उद्‌गमस्थान नहीं बन सकती। सरलता, सहानुभूति और सद्व्यवहार—सबका स्रोत एक है। सरलता महात्माओंका गुण है, सहानुभूति कवियोंका और सद्व्यवहार तत्त्व-ज्ञानियोंका। वास्तवमें तीनों गुण एक ही तत्त्वके भिन्न-भिन्न नाम हैं।

मनुष्य चतुर बनकर कुछ भी स्थायी लाभ प्राप्त नहीं कर पाता। चतुर मनुष्य सांसारिक व्यवहारमें कुशल होता है, किंतु वह आत्मज्ञानसे वञ्चित रहता है। इस प्रकारके मनुष्यसे उसके आस-पास रहनेवाले लोग भयातुर अवश्य रहते हैं, किंतु वह प्रेमका पात्र नहीं हो पाता। ऐसे मनुष्यके हृदयमें किंचिन्मात्र भी आनन्द नहीं रहता। वह जहाँ जाता है वहीं अपने आस-पासके व्यक्तियोंमें शंका, भय और चिन्ताका संसार निर्माण कर देता है। जिस तरह बालक अपनी सरलतासे आस-पासके लोगों-

को संतुष्ट करता है, जिस प्रकार एक-एक खिला हुआ फूल देखनेवालोंके मनको खिला देता है, उसी प्रकार सरल स्वभाववाला आदमी सदा अपने-आप प्रसन्न रहता है और उस प्रसन्नताका दान दूसरोंको भी दिया करता है। इसके विपरीत चतुर मनुष्य दूसरे लोगोंको चतुर बनाता है और इस तरह उनके हृदयको संकुचित और कपटसे कलुषित कर देता है। अंग्रेजीकी एक कहावतका भाव इस प्रकार है—'स्वास्थ्य उतना ही संक्रामक है, जितनी कि बीमारी।' बीमार आदमी सबमें बीमारी फैलाता है और स्वस्थ मनुष्य स्वास्थ्य। इसी तरह जिस मनुष्यका जीवन संसारमय है, वह अपने सम्पर्कसे दूसरोंको संसारी बनाता है और जिसका जीवन परमार्थमें लगा हुआ है, वह दूसरोंके मनमें भी परमार्थकी भावनाको दृढ़ करता है।



अन्तिम शरण

कुछ लोग मानते हैं कि क्रम-विकासके सिद्धान्तानुसार आधुनिक संसार उन्नतिके पथपर अग्रसर हो रहा है, परंतु आध्यात्मिक दृष्टिकोणसे देखनेपर तो यही प्रतीत होता है कि उन्नति नहीं, यह क्रमशः घोर पतनकी ओर जा रहा है। जनसाधारण जड-प्रकृतिके पुजारी बनते जा रहे हैं। विज्ञानवेत्ता और आधुनिक पाश्चात्त्य दर्शनकारोंने सृष्टि और उसके पदार्थोंके आधिभौतिक विवेचनको ही अधिक महत्त्व दिया है। वे इसीको संसारके कल्याणार्थ अत्यन्त श्रेष्ठ और लाभकारी मार्ग मानते हैं। इस आधिभौतिक जीवन और जगत्‌से परे किसी और दिव्य आध्यात्मिक सृष्टि और जीवनका भी विधाताने निर्माण किया है—इस अलौकिक और सात्त्विक सिद्धान्तको वे स्वीकार नहीं करते। यह तो नहीं कि ज्ञानी और आध्यात्मिक पुरुषोंका अभाव ही हो गया हो, परंतु यह सर्वथा सत्य है कि ऐसे ज्ञानी पुरुष आज मनुष्य-समाजमें बहुत कम रह गये हैं। जो थोड़े-से सच्चे धार्मिक पुरुष हैं भी तो उन बेचारोंकी ऐसी सृष्टिमें सुनता ही कौन है। उनका कहना तो शून्य निर्जन वनमें की गयी ध्वनिके समान व्यर्थ ही है। इसीसे आज संसारकी राजनीतिक अवस्था महान् विनाशकारी और भयानक हो रही है। तमाम जगत्‌में अशान्तिका साम्राज्य छाया है। लाखों मनुष्य इस धरापर धराशायी हो रहे हैं। ग्रामों और नगरोंमें भीषण बम और गोली चलाकर निर्दोष नर-नारियोंको, सुकुमार बच्चोंको और निरीह नागरिकोंको मौतके घाट उतारा जा रहा है। ग्राम और नगर बड़ी निर्दयताके साथ अग्निदेवकी भेंट किये जा रहे हैं। मनुष्यने जड-प्रकृतिके वशीभूत होकर अपनी प्रकृतिका कितना भयानक पतन कर डाला है। धन और साम्राज्यकी तीव्र और अनुचित इच्छाने मनुष्यजातिकी स्थितिको कितना दुःखमय और भयानक बना दिया है। ऐसे भयानक हत्याकाण्डका मुख्य कारण वास्तविक धार्मिक जीवनकी कमी और भोगमयी जड सभ्यताका विकास है। इस सभ्यताका पूर्वीय देशोंपर भी अधिक प्रभाव पड़ रहा है। यह सभ्यता ऐसा विषैला सर्प है जिसके मस्तिष्कपर सुन्दर और चमकदार मणि सुशोभित हो रही है; परंतु जिसके अंदर हलाहल जहर भरा है। यह सभ्यता इतनी विनाशकारिणी है कि इसे जो ग्रहण करता है वही विनाशके पथपर चढ़ जाता है। शृङ्खलाहीन भोगप्रवृत्ति, मांस-मद्यका अबाध सेवन, आचार-विचारकी अशुद्धता, धर्म, परमात्मा और परलोकमें अविश्वास तथा दिन-रात द्वेष और डाह आदिकी प्रेरणासे ही होनेवाले कार्योंने मनुष्यके मस्तिष्कको तमसाच्छादित कर दिया है। संसारकी यह भयानक स्थिति इसीका परिणाम है। तो फिर क्या संसारमें कोई ऐसा साधन या ज्ञान नहीं जिससे फिर मनुष्यजाति सुख और शान्तिके श्वास ले सके ? इसका उत्तर बड़ी सुन्दरतासे और पूर्णरूपसे हमारे उपनिषद्, गीता, रामायण और अन्य आर्ष ग्रन्थोंमें हमारे परम अनुभवी आर्यऋषियोंने अकाट्य युक्ति और रोचकताके साथ दिया है। संसार जब इस भयानक पारस्परिक वैर-विरोधके परिणामस्वरूप लड़-लड़कर थक जायगा तो स्वाभाविक ही उसे इस आध्यात्मिक ज्ञानकी ओर, पवित्र और धार्मिक जीवनकी ओर झुकना पड़ेगा। और अन्तमें उसे हमारे ही इन ऋषियोंके चिन्तन और स्थिर किये हुए सिद्धान्तोंकी शरण लेनी पड़ेगी। तभी सुख और शान्तिके साथ फिरसे मनुष्य-जीवनका विकास होगा।

‘कल्याण’के कुछ महत्त्वपूर्ण अप्राप्य विशेषाङ्क अब ग्रन्थाकारमें उपलब्ध

शक्ति-अङ्क—‘कल्याण’के ९वें वर्षके विशेषाङ्कके रूपमें लगभग ५७ वर्ष-पूर्व प्रकाशित यह अङ्क अब ग्रन्थाकारमें उपलब्ध कराया गया है। इसके ७०३ पृष्ठोंकी पाठ्य-सामग्रीमें परब्रह्म परमात्माके ‘शक्ति’-रूपका तात्त्विक विवेचन, महिमा, तत्त्व-रहस्य, लीलाधाम तथा उपासना आदि विषयोंके विशद विवरणके साथ भारतके सुप्रसिद्ध शक्तिपीठोंका सचित्र दिग्दर्शन एवं देवी भगवती-सम्बन्धी रोचक आख्यान और कथा-प्रसङ्ग हैं। रंगीन चित्र १६, सादे चित्र २१०, अनेक रेखा-चित्रों और उपयोगी यन्त्रोंसे सुसज्जित इस ग्रन्थका मूल्य ५०.०० (पचास रुपये) मात्र, डाकखर्च १४.०० (चौदह रुपये) अतिरिक्त।

नारी-अङ्क—लगभग तैंतालीस वर्ष-पूर्व—सन् १९४८ ई० में ‘कल्याण’के २२वें वर्षके विशेषाङ्कके रूपमें प्रकाशित यह अङ्क अपनी विशिष्टता और उपयोगिताके कारण नारी-जगत्‌के लिये अत्यन्त कामका और पथ-प्रदर्शक सिद्ध हुआ। इसकी सार्वजनीन लोकप्रियता और उपादेयताको ध्यानमें रखकर अब इसे ग्रन्थ (पुस्तक)-रूपमें छापा गया है। पृष्ठ-संख्या ८००, अनेक सादे तथा रेखा-चित्रोंके अतिरिक्त बहुरंगे चित्र ९, कपड़ेकी मजबूत जिल्द, मूल्य ५०.०० (पचास रुपये) मात्र, डाकखर्च १४.०० (चौदह रुपये) अतिरिक्त।

भक्तचरिताङ्क—‘कल्याण’ के २६ वें वर्षके विशेषाङ्कके रूपमें लगभग चालीस वर्ष-पूर्व (सन् १९५२ ई०में) प्रकाशित ‘भक्तचरिताङ्क’ अत्यधिक रोचक, सरस और शिक्षाप्रद होनेसे अत्यन्त लोकप्रिय सिद्ध हुआ। उसके पुनर्मुद्रणके लिये, बहुसंख्यक जिज्ञासु और अनेक प्रेमी पाठकोंके निरन्तर प्रेमाग्रहके फलस्वरूप अब उसे पुस्तकाकारमें अविकल प्रकाशित किया गया है। इसमें भगवद्विश्वासको बढ़ानेवाली अनेकों भक्तों और महात्माओंके जीवन-चरित्र एवं विभिन्न, विचित्र, भक्तिपूर्ण भावोंकी ऐसी पवित्र, मधुर कथाएँ हैं जो मानव-हृदयको भक्तिरससे सराबोर कर देती हैं। पृष्ठ-संख्या ८०८, बहुरंगे चित्र २५, सादे चित्र २०१, मूल्य ६०.०० (साठ रुपये) मात्र, डाकखर्च १५.०० (पंद्रह रुपये) अतिरिक्त।

विशेष—उपर्युक्त अङ्कोंकी अधिक प्रतियाँ एक साथ मँगानेपर नियमानुसार १५ प्रतिशत कमीशन भी दिया जाता है।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पत्रालय—गीताप्रेस, गोरखपुर-२७३००५

जयपुर-केन्द्रके ‘कल्याण’के ग्राहकोंको आवश्यक सूचना

भगवत्कृपासे जयपुर-केन्द्रके ‘कल्याण’के ग्राहकोंके लिये विशेषाङ्क-प्राप्तिकी स्थानीय व्यवस्था है। जयपुर-केन्द्रपर विशेषाङ्क पहुँचनेके बाद उन सभी ग्राहक महानुभावोंको वितरण प्रारम्भ कर दिया जाता है, जिनके द्वारा ‘कल्याण’के निमित्त वार्षिक शुल्कराशि जयपुर-केन्द्रपर अग्रिम जमा करा दी जाती है। अतः जयपुर-केन्द्रके सभी ‘कल्याण’-ग्राहकोंसे निवेदन है कि वे ‘कल्याण’के ६६वें वर्षके (संक्षिप्त भविष्यपुराणाङ्क) विशेषाङ्कके लिये अपना वार्षिक शुल्क ५५.०० रु० (पचपन रुपये) मात्र जयपुरके निम्नाङ्कित पतेपर यथाशीघ्र अग्रिम जमा कराकर कृपया तदर्थ रसीद अवश्य प्राप्त कर लें। ग्राहकोंकी सुविधाके लिये इसी अङ्कमें मनीआर्डर-फार्म संलग्न कर दिया गया है।

आजीवन ग्राहक बननेके लिये शुल्क ५००.०० रु० मात्र है। सजिल्दके लिये ६००.०० रुपये हैं। अंग्रेजी ‘कल्याण-कल्पतरु’के ग्राहक भी बनाये जाते हैं, जिसका वार्षिक शुल्क ४०.०० रु० मात्र है।

अग्रिम शुल्क जमा न करानेवाले ग्राहकोंको विशेषाङ्क-वितरणमें विलम्ब तथा असुविधा होती है। अतः चेष्टापूर्वक अपना शुल्क शीघ्र ही जमा कराकर विशेषाङ्क-वितरणकी स्थानीय व्यवस्थामें सहयोग प्रदान करना चाहिये।

साधारण मासिक अङ्कोंका प्रेषण सीधे ‘कल्याण’-कार्यालय, गोरखपुरसे डाकद्वारा किया जाता है। जो ग्राहक सज्जन अपने साधारण अङ्क वर्षभर जयपुर-केन्द्रसे ही आकर लेना चाहते हैं, उन्हें इसकी सूचना वार्षिक शुल्क-राशि जमा कराते समय ही रसीदमें अङ्कित करवा देनी चाहिये। बार-बार परिवर्तन कर भिजवानेमें कठिनता है।

गीताप्रेस, गोरखपुरकी व्यवस्थानुसार जयपुर-केन्द्रसे थोकमें पुस्तकें एवं ‘कल्याण’-विशेषाङ्क मँगवा सकते हैं।

जयपुरमें हमारे अधिकृत केन्द्रका पता इस प्रकार है—

गीताप्रेस-पुस्तक-प्रचार-केन्द्र, (रजि०)

[illegible] जयपुर-३०२००३ (राज०) दूरभाष: ५६३३७९

गीताप्रेस, गोरखपुरका लोकहितैषी, सस्ता सत्साहित्य

भगवान्के रहनेके पाँच स्थान

[प्रथम बार, नयी पुस्तक]

प्रस्तुत पुस्तकमें पद्मपुराण-सृष्टिखण्डसे संकलित पाँच प्रेरक कथाओंका संग्रह है। श्रीगोयन्दकाजीद्वारा सम्पादित 'पद्मपुराण'के संक्षिप्त हिन्दी-रूपान्तरसे ली गयी इन कथाओंमें साररूपसे यह बतलाया गया है कि सर्वव्यापक भगवान् विशेषरूपसे किन-किन स्थानोंपर निवास करते हैं? सरल एवं सुबोध-भाषामें रोचक और शिक्षाप्रद कथाओंका यह संकलन परमार्थ-पथके पथिकोंके लिये अत्यन्त उपयोगी है। पृष्ठ-संख्या ५६, बहुरंगा चित्रावरण, मूल्य २.०० (दो रुपये) मात्र, डाकखर्च अतिरिक्त।

दाम्पत्य-जीवनका आदर्श

प्रस्तुत पुस्तकमें श्रीपोद्दारजीने दाम्पत्य-जीवनके सर्वविध उत्कर्ष तथा कल्याण-मङ्गलके लिये भारतीय संस्कृतिके आदर्श और धर्म-सम्मत सिद्धान्तोंके अनुरूप अनेक महत्त्वपूर्ण विषयोंका अति उपयोगी विवेचन किया है। उदाहरणार्थ इसमें आदर्श हिन्दू-विवाहका स्वरूप, महत्त्व, पति-पत्नीके कर्तव्य, धर्म-व्यवहार एवं सुखमय विवाहके साधन आदि विषयोंपर लेखों, पदों एवं पत्रों आदिका संग्रह है। स्थायी सुख-शान्तिपूर्ण आदर्श दाम्पत्य-जीवनके लिये पुस्तकका अनुशीलन सर्वथा उपादेय और व्यवहारमें लानेपर कल्याणकारी है।

पृष्ठ-संख्या १३४, आकर्षक बहुरंगा सचित्र आवरण, मूल्य ५.०० (पाँच रुपये) मात्र, डाकखर्च ७.०० (सात रुपये) अतिरिक्त। विवाह आदि सामाजिक समारोहोंमें वितरण करने-हेतु एवं वर-वधूको देने योग्य यह उत्तमोत्तम उपहार-सामग्री है।

गृहस्थमें कैसे रहें?

[पाँच भाषाओंमें उपलब्ध]

गृहस्थोचित धर्म, व्यवहार और कर्तव्य-पालनके विषयको इस पुस्तकमें सरल, सुबोध भाषामें समझाया गया है। इस संशोधित संस्करणमें 'संतानका कर्तव्य' और 'महापापसे बचो'—ये दो महत्त्वपूर्ण प्रकरण भी और सम्मिलित किये गये हैं। (इन दोनों विषयोंपर इन्हीं नाम-शीर्षकसे लेखककी दो छोटी पुस्तिकाएँ अलगसे भी उपलब्ध हैं।) परम श्रद्धेय श्रीस्वामीजी महाराजद्वारा प्रणीत इस पुस्तककी प्रेरणाप्रद सामग्री सभी आयुवर्गके पाठकों—स्त्री-पुरुषों और बालकोंके लिये भी विशेष उपयोगी है। पृष्ठ-संख्या १३०, बहुरंगे सचित्र आवरणसहित, मूल्य ४.०० (चार रुपये) मात्र, डाकखर्च ७.०० (सात रुपये) अतिरिक्त। अब यह हिन्दीके अतिरिक्त मराठी, बँगला, अंग्रेजी और उर्दूमें भी उपलब्ध है।

गीताप्रेस—चित्रकथा (धारावाहिक)

'गीताप्रेस-चित्रकथा' धारावाहिकके अन्तर्गत आकर्षक चित्रावरण और भावमय सुन्दर चित्रोंसे सुसज्जित, भगवान् श्रीकृष्णविषयक क्रमशः—(१) 'कन्हैया', (२) 'गोपाल' और अब (३) 'मोहन' चित्रकथाएँ (धारावाहिक) प्रकाशित हो चुकी हैं। जिनमें श्रीकृष्णके रसमय आदर्श बालचरित, पौगण्ड और कैशोर-लीलाओंका क्रमशः सजीव चित्रण है। हर्षका विषय है कि इन धारावाहिकोंको बड़ी संख्यामें प्रेमी महानुभावों और श्रद्धालुओंने श्रद्धा और सहृदयतापूर्वक अपनाया तथा अत्यधिक पसंद किया है, फलस्वरूप इनकी माँग निरन्तर बढ़ती जा रही है। इस शृङ्खलाके प्रत्येक भागका मूल्य ५.०० (पाँच रुपये) मात्र तथा डाकखर्च अतिरिक्त है। ये चित्रकथाएँ बाल-वृद्ध, नर-नारी सभीके लिये अत्यन्त आकर्षक, सुरुचिपूर्ण और शिक्षाप्रद हैं। उपहार तथा पुरस्कारमें देने योग्य ये सर्वोत्तम और उपयुक्त हैं।

व्यवस्थापक— गीताप्रेस, गोरखपुर—२७३००५